

विद्या प्रसारक मंडळ, ठाणे

पुस्तकाचे नाव	:	वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः
संपादक	:	बलदेवउपाध्यायेन आचार्य
प्रकाशक	:	वाराणसी : चौखंबा संस्कृत संस्थान
प्रकाशन वर्ष	:	१९८५
पृष्ठे	:	२८४ पृष्ठे

गणपुस्तक

विद्या प्रसारक मंडळाच्या

“ग्रंथालय” प्रकल्पांतर्गत निर्मिती

गणपुस्तक निर्मिती वर्ष : २०१४

गणपुस्तक क्रमांक : ४१

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१०२



वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः

(सायणाचार्यविरचितानां स्ववेदभाष्यभूमिकानां सङ्ग्रहः)

सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालये गवेषणालयस्य भूतपूर्व
निदेशकेन पद्मविभूषणपदवीविभूषितेन
आचार्य बलदेवउपाध्यायेन

भूमिकाटिप्पण्यादिभिः समलङ्कृत्य

सम्पादितः परिवर्द्धितश्च



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जडाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४२
मूल्य C.S. Sansthan Rs. 150/-

फोन : ६५८८६

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन ६५४४४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

102

*****

THE

VEDA BHĀṢYA BHŪMIKĀ SAṂGRAHA

(A collection of all Available Sāyanā's Introduction to his vedic Commentaries)

Padmabhūshaṇa

ĀCHĀRYA BALADEVA UPĀDHYĀYA

Ex-Director, Research Institute

Sampurṇānanda Sanskrit University, Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Second Edition : 1985

Price : Rs. 50-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

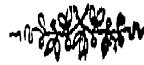
Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

TABLE OF CONTENTS.



PREFATORY NOTE

It is proposed here to publish in a convenient form all available Sāyaṇāchārya's introductions to his commentaries upon the Vedic Samhitās. As far as known to us, these have not seen the light so far. Much material has been utilised in the course of preparing the press copy and the editing of this work. No pain has been spared and no work bearing upon our text has been left unconsulted. Every attempt has been made to make it as useful as possible. Now it rests with the learned scholars to see how far I have been successful.

To make this volume interesting and useful to both the Sanskrit-knowing Pandits and English-knowing scholars alike, we have appended two introductions, one in Sanskrit and the other in English. The Sanskrit introduction contains a somewhat detailed information, both historical and critical, about the life and works of Sāyaṇāchārya, and attempts in a very humble way to estimate the great merit of these as suitable introductions for a proper study of our sacred Vedas. The English introduction summarises the views profounded in the Sanskrit Prastāvanā with some additional comments upon the premier position of Sāyaṇa as one of the important authorities upon the traditional exegesis of Veda. We have also given, besides an exhuastive content of the various topics dealt with here, four appendices containing very useful information. The first eontains as alphabetical list of subject matter treated by Sāyaṇa in his

introductions. The second has got an interesting alphabetical list of the important teehnical terms; the third enumerates the authors and works named and quoted here; while the last supplies a long alphabetical list of all the quotations traced to their original sources I believe this additional matter will help the intending readers of this volume not only in thoroughly grasping the various difficult and complex problems treated here, which are more or less technical and abstruse, but will also give a somewhat acute insight in properly appreciating the stand-point of Sāyaṇa as an eminent interpreter of the Veda.

I have very great pleasure in expressing my deep debt of gratitude to the scholars whose works have been utilised by me in some way or other. I should particularly mention the name of Pandit Satyavrata Sāmaśrami whose Devanagari and Bengali editions of the Sāmaveda Samhitā have saved me from many pitfalls of textual wilderness.

Before concluding this note, I should very much like to refer to one another name in this connexion. It is that of my learned colleague, Professor Batuk Natha Sharma. It was with him that the idea of publishing this work originated and it was at his suggestion that I took up the work. To him I am specially grateful—far more than I can express—for the constant help he has given me in the successful excution of this task.

16-3-34
Hindu University,
Varanasi

BALADEVA UPADHYAYA

सङ्केतितपदानां सूची

अ०	अथर्ववेद
अनु० भा०	अनुक्रमणिकाभाष्य
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आप०	आपस्तम्ब
आप० ध०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० मं० पा०	आपस्तम्ब मंत्रपाठ
आप० परि०	आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा
आश्व०	आश्वलायन
आश्व० सू०	आश्वलायन सूत्र
उ० आ०	उत्तरार्चिक
ऊ० गा०	ऊह गान
ऋ०	ऋग्वेद
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्
ऐ० ब्रा० ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का०	कात्यायन अनुक्रमणी
के०	केशवीयगृह्यपद्धति
कौ०	कौशिक सूत्र
गे० गा०	गेय गान
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
गो० सू०	गोतम सूत्र
च० व्यू०	चरण व्यूह
छा०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै०	जैमिनिसूत्र
जै० न्या० जै० न्या० मा०	जैमिनि न्यायमालाविस्तार
ता० म० ता० म० ब्रा०	ताण्ड्य महाब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण

तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
नि०	निरुक्त
नृ०	नृसिंह तापनी उपनिषद्
नृ० पू० ता०	नृसिंह पूर्व तापिनी
प०	परिशिष्ट
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
पा० अष्टा०	पाणिनि अष्टाध्यायी
पू० आ०	पूर्वार्चिक
बृ० बृ० उप० }	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
म० भा०	महाभारत
म० स्मृ०	मनुस्मृति
मी०	मीमांसा सूत्र
मी० भा० वि०	मीमांसा-भाष्य-विवरण
मु०	मुण्डक उपनिषद्
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
लाट्या० सू०	लाटचायन सूत्र
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वि० पु०	विष्णु पुराण
वि० सं०	विनियोगसंग्रह
वे०	वेदान्तसूत्र
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा० भा०	शाबर भाष्य
श्वेता० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सत्या० सू०	सत्याषाढ सूत्र
सा० सं०	सामसंहिता
संहि० ब्रा०	संहिताब्राह्मण



प्रस्तावना

(नवीन संस्करण)

सायणाचार्य के 'वेदभाष्यभूमिका-संग्रह' नामक ग्रन्थ के परिवर्धित संशोधित नवीन-संस्करणको वैदिकतत्त्व के जिज्ञासुओं तथा छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। यह मूल्यवान् ग्रन्थ बहुत दिनों से अलभ्य हो गया था जिसके नूतन संस्करण के निमित्त विज्ञजनों का सातिशय आग्रह हो रहा था। इसी आग्रह की संपूर्ति के लिए ग्रन्थ का नवीन संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

वैदिक संहिताओं के अर्थ समझने में एवं गूढ़ रहस्यों के उद्‌घाटन में ब्राह्मण ग्रन्थों से सर्वप्रथम सहायता प्राप्त होती है। एक प्रकार से ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रार्थ की कुंजी हैं जिनके साहाय्य से उनका रहस्यमय अर्थ खोला जा सकता है। निरुक्त तथा व्याकरण से भी इस कार्य में सहायता मिलती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे हुए व्याख्यासूत्रों को पकड़ कर कालान्तर में निघण्टु एवं निरुक्त की रचना की गई। मध्य युग के वैदिक भाष्यकार इस तथ्य से सर्वथा परिचित थे, तभी तो सायणपूर्व-कालीन भाष्यकार **वेंकटमाधव** ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि मन्त्रों के संदिग्ध एवं अज्ञात अर्थों का निर्णय वृद्धों से किया जा सकता है। **'वृद्ध'** कौन है? वृद्ध वे नहीं हैं जो अवस्थाक्रम से वार्धक्य में वर्तमान हैं, प्रत्युत वृद्धजन वे विज्ञ पुरुष हैं जो ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों के ज्ञाता हैं तथा ब्राह्मण के अर्थों के विवेचन करने वाले हैं। वे ही यथार्थ में शब्दरीति को जानते हैं तथा वेद के समग्र अर्थ को ठीक ढंग से प्रतिपादित कर सकते हैं। परन्तु अधुनातन विद्वानों की दशा तो इनसे नितान्त भिन्न है। जिन्होंने निरुक्त तथा व्याकरण में परिश्रम किया है, वे वेद का समस्त अर्थ नहीं जानते, वे तो केवल चतुर्थ अंश ही जानते हैं[1]।

---

१. येऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः।
ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणम्।
तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते॥

× × ×

अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद् येषां परिश्रमः॥

फलतः इन दोनों प्रकार के विद्वानों में पार्थक्य है। दोनों के ज्ञान क्षेत्र के भिन्न होने से ज्ञान की ईयत्ता में भी भेद है। तात्पर्य यह है कि वेद के समग्र अर्थ की जानकारी के लिए ब्राह्मण एवं आरण्यकों के साथ ही साथ निरुक्त तथा व्याकरण का भी परिनिष्ठित पण्डित होना चाहिए। तभी श्रुति अपने अन्तराल में व्याप्त गूढ अर्थ की अभिव्यक्ति ऐसे विद्वानों के सामने करती है।

सायणाचार्य इसी अतिविशिष्ट कोटि के विद्वान् थे उन्होंने पाँच वैदिक संहिताओं—तैत्तिरीय संहिता, ऋक्संहिता, सामवेदसंहिता, काण्वसंहिता तथा अथर्ववेदसंहिता-पर भाष्यों का प्रणयन किया है और प्रत्येक भाष्य के आरम्भ में तत्संहितोपयोगी तथ्यों का सकलन किया है। इन भाष्यभूमिकाओं में वेदसम्बन्धी परम्परागत सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवरण बड़े विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया गया है। इन्हीं विविध वेदों से सम्बद्ध भूमिकाओं का संस्करण मूल रूप में यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लेखक के रूप में सायणाचार्य के जीवनवृत्त, समय तथा वैशिष्ट्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इन्हीं की पूर्ति यहाँ की जा रही है। अंग्रेजी तथा संस्कृत भूमिका में ये तथ्य संक्षेप में दिये गये हैं। हिन्दी से ही परिचय रखने वाले पाठकों के लाभार्थ कुछ विस्तार से इनका प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है[1]।

आचार्य सायण

यह कम परिताप का विषय नहीं है कि जिन कलाकुशल कोविदों ने अपनी कमनीय कृतियों से संस्कृत साहित्य के भाण्डागार की पूर्ति की, जिनके कारण यह साहित्य संसार के श्लाघनीय साहित्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान आज भी बनाये हुए है, जिनकी रमणीय रचनाएँ संसार के मनीषीजनों के आदर तथा सम्मान की बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, उन्हीं के सामान्य परिचय से भी हम सदा के लिए वंचित हैं। कुछ तो महान् राष्ट्रों के विशाल गौरव को भी अतीत की सामग्री बनानेवाले कुटिल काल की लीला का विलास है, तो और कुछ इस क्षणभंगुर संसार की परिवर्तनशीलता तथा अस्थिरता का अनुभव करनेवाले, अपने जीवन को विश्वसमुद्र के ऊपर एक अतीव सामान्य बुद्बुद समझनेवाले इन भारतीय भव्य आत्माओं की जीवनदृष्टि का परिणाम है। इन कारणों के स्वरूप की बिना छानबीन किये ही हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जो कुछ भी कारण हो, लेकिन आज कविताकामिनी के कमनीय

१. आचार्य सायण और उनके अग्रज माधव के विषय में प्रामाणिक एवं प्रमेय-बहुल तथ्यों के विशिष्ट परिचय के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ 'आचार्य सायण और माधव' (द्वितीय परिबृंहित संस्करण, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९८४)।

अलंकारभूत महाकवि-मूर्धन्य स्वयं कालिदास का समय शताब्दियों का थपेड़ा खाता हुआ इधर से उधर अनिश्चय के आन्दोलन का अनुभव कर रहा है। संस्कृत के अन्य कवियों तथा पण्डितों के विषय में भी हमारा ज्ञान अधिक निश्चय को प्राप्त किये हुए नहीं है। ऐसी दशा में यह कम हर्ष का विषय नहीं है कि सायणाचार्य के कौटुम्बिक वृत्त के विषय में हमारे ज्ञान के अनेक साधन[1] उपस्थित हैं, जिनकी समुचित सहायता से इनके कुटुम्ब का पर्याप्त परिचय हम प्राप्त करते हैं।

(१)

सायणाचार्य का कौटुम्बिक वृत्त

सायणाचार्य के ग्रन्थों से इनके इतिहास तथा जीवनचरित की अनेक घटनाओं का हम परिचय पाते हैं। सायण ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ तथा अन्त में बहुत-सी ज्ञातव्य बातों का निर्देश किया है, जो इनके जीवनचरित लिखने में इस समय बहुमूल्य प्रतीत हो रही है। इनके विज्ञ भ्राताओं की रचनाओं से भी इन बातों की सत्यता की परिपुष्टि पर्याप्त मात्रा में होती है। इसके अतिरिक्त विजयनगर के आदिम शासकों के अनेक शिलालेखों में इनका तथा इनके कुटुम्बियों का विशेष उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती लेखकों के ग्रन्थों में भी इनके निर्देश कम नहीं है। प्रसिद्ध शाङ्करपीठ श्रीशृंगेरीमठ के आचार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले 'गुरुवंश-महाकाव्य'[2] तथा अन्य ग्रन्थों में सायण तथा उनके ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य का विपुल वृत्त उपलब्ध होता है। शिलालेखों तथा शासनपत्रों में तो इनके उल्लेख इतनी अधिकता से मिलते हैं, जितने अन्य किसी ग्रन्थकार के विषय में शायद ही मिलते हों। इन्हीं समग्र सामग्रियों का उपयोग कर इधर-उधर छिन्न-भिन्न अंशों को पूर्ण कर सायण के जीवनवृत्त तथा कुटुम्ब का यथासम्भव वर्णन किया जाता है।

सायण का कुल

सायणाचार्य के विशेष कौटुम्बिक वृत्त देने से पहले यह नितान्त आवश्यक है कि हम इसका निर्णय कर लें कि ये किस देशके ब्राह्मण थे। सायण तथा इनके भ्राताओं का कर्मक्षेत्र विजयनगर तथा तत्सम्बद्ध प्रदेश ही में था। विजयनगर तुंगभद्रा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह नगर ऐसे स्थान में था, जहाँ कर्नाटक

१. देखिए : 'एपिग्राफिका इंडिका', तीसरी जिल्दः, 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' के सब भाग तथा 'मैसूर आर्किओलाजिकल रिपोर्ट' के भिन्न-भिन्न वर्षों की जिल्दें।

२. यह ऐतिहासिक ग्रन्थ श्रीरंगम् के श्रीवाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। अभी ग्रन्थ का आधा भाग ही छपा है। शेष अंश अभी छपने वाला है।

देश से आन्ध्रप्रान्त मिलता है। यह न शुद्ध कर्नाटक देश ही में है और न विशुद्ध आन्ध्र प्रदेश में, प्रत्युत यह दोनों के सीमाप्रान्त में स्थित है। इस स्थान पर दोनों देशों के ब्राह्मणों का निवास प्राचीन काल में था तथा आधुनिक काल में भी बतलाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि सायणाचार्य कर्णाटक थे अथवा आन्ध्र। सायण का नाम तो कर्णाटक-शैली पर रखा गया अवश्य प्रतीत होता है। इनका मूल कर्णाटक नाम 'सायण्णा' मालूम पड़ता है। इस प्रकार के नाम आज भी कर्णाटक देश में सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। कर्णाटकदेशीयों के तामण्णा, सामण्णा तथा रामण्णा आदि नाम बहुलता से पाये जाते हैं। सायण के पिता का 'मायण' नाम भी 'मायण्णा' का विशुद्ध रूप जान पड़ता है। इनके अन्य कुटुम्बियों के अभिधान भी इसी कर्णाटक-शैली के अनुसरण पर रख गये प्रतीत होते हैं। अतः यदि इस नामकरण-शैली को महत्त्व दिया जाय, तो कहना पड़ेगा कि सायण कर्णाटक थे; परन्तु इसके बाधक अनेक प्रमाणों की उपस्थिति में यह अनुमान विशेष सबल नहीं जान पड़ता। सायण ने स्वयं ही 'अस्माकमान्ध्राणाम्' लिखकर अपना उल्लेख किया है। सायण के भागिनेय अहोबल पण्डित ने संस्कृत में तेलुगू (आन्ध्र) भाषा का एक प्रामाणिक व्याकरण लिखा है। जब भागिनेय तेलुगू भाषाभाषी है अर्थात् आन्ध्र है, तब मातुल का तद्देशीय होना अनुमान से सिद्ध है। अतः सायण का आन्ध्रदेशीय होना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है। पूर्वोक्त उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक के सायण भाष्य में उपलब्ध होता है।

सायणाचार्य के पूज्य पिता का नाम 'मायण' था। इनका हमें नामतः ही परिचय है। इनके विषय में नाम के अतिरिक्त हमें अन्य विवरण कुछ भी नहीं मिलता। सायण की माता का नाम सर्वत्र 'श्रीमती' मिलता है, केवल काञ्ची के अरुलाल-पेरुमाल मन्दिर के अधूरे शिलालेख में 'श्रीमायी' मिलता है। दोनों नाम एक समान ही हैं, परन्तु अनुमान होता है कि 'श्रीमायी' नाम ही उनकी माता का था, इसी का संस्कृत में ढाला गया रूप 'श्रीमती' है। सायण इन्हीं मायण तथा श्रीमती के पुत्र थे। सायण तीन भाई थे। जेठे भाई का नाम **माधवाचार्य** था, जो अपने समय के एक बड़े विशिष्ट विद्वान् तथा प्रभावशाली राजनीतिपटु मन्त्री थे। छोटे भाई का नाम **भोगनाथ** था; ये एक बड़े भारी कवि थे। सायण का गोत्र भारद्वाज था। ये कृष्णयजुर्वेद–सम्बन्धी तैत्तिरीय शाखा के ब्राह्मण थे। इनका सूत्र बौधायन था। इनके कुटुम्ब का इतना सामान्य वर्णन इनके ग्रन्थों में सर्वत्र पाया जाता है। सायणाचार्य के जेठे भाई माधवाचार्य अपने समय की एक जाज्वल्यमान विभूति थे। इनका पद भारत के राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास में अत्यन्त माननीय था। ये सायण की उन्नति तथा ग्रन्थरचना के सर्वथा कारण थे।

भोगनाथ

भोगनाथ सायण के छोटे भाई थे। ये अपने ज्येष्ठ भ्राताओं के समान ही प्रसिद्ध पुरुष थे। ये बुक्कराय के भतीजे तथा कम्पराय के पुत्र सङ्गम भूपाल (द्वितीय) के नर्मसचिव थे। इसका पता हमें इन्हीं की लिखी 'बिट्रगुण्ट प्रशस्ति' के निम्नलिखित श्लोक से चलता है, जो उक्त प्रशस्ति के प्रायः अन्त में मिलता है—

"इति भोगनाथसुधिया सङ्गमभूपालनर्मसचिवेन
श्रीकण्ठपुरसमृद्ध्यै शासनपत्रेषु विलिखिताः श्लोकाः।"

भोगनाथ के संगम भूपाल के साथ अत्यन्त घनिष्ठ परिचय की सूचना हमें इनके ज्येष्ठ भ्राता सायण के 'अलंकार-सुधानिधि' से मिलती है। वे कवि थे। जहाँ कहीं इनका निर्देश मिलता है, वहाँ वे कवि ही कहे गये हैं। 'अलंकार-सुधानिधि' के द्वितीय पद्य के 'भोगनाथस्य वा कवेः' अंश में भोगनाथ का कवि के रूप में उल्लेख मिलता है। काञ्ची के शिलालेख में भी भोगनाथ कवि कहे गये हैं—

"भूष्णुरनुजः श्रीभोगनाथः कविः।"

इन उल्लेखों तथा राजदरबार में इन्हें उपलब्ध सम्माननीय पद से भी यही प्रतीत होता है कि भोगनाथ अपने समय के एक कमनीय काव्यकला-कुशल कवि थे। इनकी उपलब्ध रचनाएँ इनकी अलौकिक काव्यप्रतिभा के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। भोगनाथ की समग्र रूप में प्राप्त रचना बिट्रगुण्ट के शिलालेख की प्रशस्ति है[1]; जिसमें इन्होंने अपने आश्रयदाता तथा अन्तरंग मित्र संगम भूपाल की कीर्ति तथा वदान्यता का बहुत ही रोचक, ललित तथा विशद वर्णन किया है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, परन्तु काव्यदृष्टि से भी यह प्रशस्ति अनेक अंश में—शैली की परीक्षा में तथा गुणों की सम्पन्नता में—विशेष गौरवशालिनी है। इस प्रशस्ति के अतिरिक्त इनके कम-से-कम ६ काव्य और भी थे; क्योंकि इन सब का उल्लेख सायणाचार्य ने अपने अलंकार-प्रतिपादक ग्रन्थ 'अलंकार सुधानिधि' में किया है। ये ग्रन्थ हैं : १. रामोल्लास, २. त्रिपुरविजय, ३. शृंगारमंजरी, ४. उदाहरणमाला, ५. महागणपतिस्तव और ६. गौरीनाथाष्टक।

यदि ग्रन्थ समग्र अंश में मिलते तो हम भोगनाथ की अलौकिक काव्यप्रतिभा की प्रचुर परीक्षा कर पाते, परन्तु इनके जितने ही अंश उपलब्ध हैं, उतने से ही हम इनकी श्लाघनीय योग्यता, काव्य-कुशलता तथा शास्त्र-प्रवीणता का सामान्य परिचय प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ हैं। सायणाचार्य के हृदय में भोगनाथ की

---

१. यह शिलालेख 'एपिग्राफिका इण्डिका' की तीसरी जिल्द में अनुवाद के साथ प्रकाशित किया गया है।

कविता के विषय में कितने ऊँचे विचार थे तथा वह उसे किस दृष्टि से देखते थे, इसका पता इस बात से चलता है कि अलंकारों के उदाहरणों को स्वयं न देकर सायण ने जिज्ञासु पाठकों को भोगनाथ के काव्यों के निरीक्षण करने के लिए कहा है—

"तेषामुदाहरणानि भोगनाथ-काव्येषु द्रष्टव्यानि ।"

वास्तव में भोगनाथ की कविता भी अलंकारों से परिपूर्ण है, प्रसादगुण से ओत-प्रोत है, काव्यकल्पना की ऊँची उड़ान है। नमूने के तौर पर उनके कतिपय पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। अपने आश्रयदाता राजा संगम की कीर्तिकौमुदी का वर्णन कवि ने कितनी सुन्दर भाषा में किया है—

"यद्यशःप्रसरणेन भूयसा ह्लादमेयुषि परं जगत्त्रये ।
अश्नुते विफलतां न चन्द्रमाः केवलं कुमुदिनीविकाशनात् ।।"

अर्थात् राजा का यश चारों ओर फैल रहा है। इसी कारण से तीनों लोक परम आनन्द को प्राप्त कर रहा है, फिर बेचारे चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है? क्या वह बिल्कुल व्यर्थ है? नहीं-नहीं, वह तो केवल कुमुदिनी को खिला कर अपनी सफलता बनाये हुए हैं। आशय यह है कि जिस सुधांशु का काम समस्त संसार का रञ्जन करना था, वह तो भूपाल की कीर्ति के सामने केवल कुमुदिनी को खिला कर ही चरितार्थ हो रहा है। उसका काम केवल कुमुदिनी का खिलाना ही रह गया है, अन्यथा वह बिल्कुल व्यर्थ है।

'त्रिपुर-विजय' में कितना सुन्दर वर्णन है—

"उपर्ययो रचितमयश्च राजतं तयोर्द्वयोः कनकमयं च मध्यतः ।
पुरत्रयं दहनविधेः पुरोऽप्यगात् सधूमतां सदहनतां सभस्मताम् ।।"

अर्थात् त्रिपुर का ऊपरी भाग लोहे का बना हुआ है। बिचला भाग चमकते सोने का तथा नीचे का हिस्सा चाँदी का है। अतः जब इन तीनों भागों में प्रभा बिखर रही है तो जान पड़ता है कि आग लगने के पहले ही उससे धूम-समूह निकल रहा है, कहीं पर आग लगी हुई है तथा कहीं पर ढेर का ढेर भस्म पड़ा हुआ है। आकाक्षा की आग से जलनेवाले, बढ़नेवाले मत्सर गुण से आक्रमण किये गए, पापाचरण में निरत अपने लिए कवि ने जिन शब्दों में 'गौरीनाथ' से दया की भिक्षा माँगी है, वे भक्तों के पढ़ने ही लायक है—

"कष्टाय प्रसवाय शास्त्रपदवीशिष्टाय कांक्षानल-
प्लुष्टाय, प्रथमानमत्सरगुणाविष्टाय दुष्टात्मने ।
रुष्टाय प्रतिषिद्धकार्यघंटनातुष्टाय सृष्टागसे
गौरीनाथ! गुणाधिनाथ! जनक! प्रीणातु मह्यं भवान् ।।"

सायण के भागिनेय

सायणाचार्य की एक भगिनी भी थी। इसका पता हमें शिलालेखों से चलता है। इनका नाम 'सिङ्गले' था। इनका विवाह रामरस नामक व्यक्ति से हुआ था। इनके पुत्र का नाम 'लक्ष्मीधर देव' मिलता है। उनके गाणपत्य होने का हम अनुमान सहज में कर सकते हैं, क्योंकि इन्होंने राजा देवराय के समय में १४१० ई० के २० फरवरी को एक मन्दिर में गणपति की प्रतिमा स्थापित की थी। इन लक्ष्मीधर देव के अतिरिक्त सायणाचार्य के एक दूसरे भागिनेय का भी पता हमें परम्परा तथा प्रसिद्धि से चलता है। इस दूसरे भागिनेय का नाम अहोबल पण्डित है। ये अपने समय के संस्कृत तथा तेलुगु भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् समझे जाते थे। इन्होंने संस्कृत में तेलुगु भाषा का एक विस्तृत तथा प्रामाणिक व्याकरण बनाया है, जिसमें इन्होंने अपने मातुल की 'धातुवृत्ति' का सादर उल्लेख किया है। यह समुल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से कितने महत्त्व का है, इसका वर्णन माधवाचार्य तथा विद्यारण्य की एकता सिद्ध करने के समय हम आगे करेंगे। पता नहीं कि यह अहोबल पण्डित इसी भगिनी के पुत्ररत्न थे या किसी अन्य भगिनी के। जब तक इसका पता नहीं चलता, तब तक हमें इन भागिनेयों के नाम तथा काम के वर्णन पर ही सन्तोष करना चाहिए।

सायण के पुत्र

सायण के पुत्रों के विषय में सौभाग्यवश हमारी जानकारी कई अंशों में अधिक है। जिस प्रकार सायण भ्राताओं के विषय में सौभाग्यशाली थे; उसी प्रकार पुत्रों के विषय में भी थे। 'अलंकार-सुधानिधि' में उद्धृत निम्नलिखित पद्य से हम साय के पुत्रों के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं—

> "तत् संव्यञ्जय कम्पण ! व्यसनिनः संगीतशास्त्रे तव
> प्रौढिं मायण ! गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय ।
> शिक्षां दर्शय शिंगण ! क्रमजटाचर्चासु वेदेष्विति;
> स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः सम्मोदते सायणः ॥"

यह पद्य सायण के सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन के एक मनोरम दृश्य का सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। राजकाल से अवकाश पाकर जब कभी सायण अपने घर पर आते थे, तब अपने पुत्रों से प्रेम प्रदर्शित कर बड़े सुख का अनुभव करते थे। वह कह रहे हैं कि ए कम्पण ! संगीतशास्त्र में अपनी प्रवीणता प्रदर्शित करो। मायण ! तुम गद्य-पद्य की रचना में अपनी चतुरता दिखलाओ। शिंगण ! तुम वेदों के क्रम, जटा तथा विभिन्न पाठों में अपनी शिक्षा को प्रकट

करो। इस प्रकार अपने पुत्रों का लालन करते हुए भाग्यशाली सायण घर पर आकर आनन्द मनाते हैं। यह जीवन भी कितना आनन्दमय है। बाहर मन्त्री के महत्त्वशाली तथा दायित्वपूर्ण कार्य में वे व्यस्त हैं और भीतर आते ही पुत्रों के प्रेममय पठन-पाठन को सुनकर थकान को मिटाते हैं तथा उस अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं, जिसे लक्ष्मी तथा सरस्वती के कुछ ही कृपापात्र जानते हैं।

इस पद्य की परीक्षा से हम सायण के तीन पुत्रों का परिचय पाते हैं। श्लोक में दिये गए क्रम को ठीक मानें तो **कम्पण** सायण के जेठे लड़के ठहरते हैं। ये संगीत-शास्त्र के विशेष पण्डित थे। दूसरे पुत्र **मायण कवि** थे। ये गद्य-पद्य की रचना करने में विशेष प्रवीण थे। यदि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रचयिता सायण के पुत्र माधव के साथ इनकी एकता मानी जाय—और इस एकता के मानने के लिए अनेक प्रबल प्रमाण हैं—तो यह मायण दर्शनशास्त्र के भी परिनिष्ठित ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इनके गुरु 'सर्वज्ञविष्णु' थे, जिनको इन्होंने 'सर्वदर्शनसंग्रह' के आरम्भ में प्रणाम किया है। तृतीय पुत्र **शिङ्गण** वैदिक थे। वेद के जटापाठ जैसे कठिन पाठ का भी इन्होंने अभ्यास किया था। ये बड़े धनवान् और साथ ही साथ बड़े भारी दानी भी थे। शिङ्गल ने अनेक ब्राह्मणों को भूमिदान दिया था। 'शतपथ-ब्राह्मण' के प्रतिकाण्ड की सायणाचार्यकृत टीका के अन्त में निम्नलिखित दो पद्य उद्धृत मिलते हैं, जिनसे शिङ्गण की विपुल उदारता तथा वदान्यता की पुष्टि होती है। औदार्यसूचक पद्य ये हैं—

"ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णवर्णं,
सप्ताब्धीन् पञ्च सीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः।
रत्नोस्रां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिंगणार्यो,
व्यश्राणीत् विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटं च ॥
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभवमतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृतमजडो राजतं राजपूज्यः।
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणजमनृणः शार्करं चार्कतेजाः।
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरिमकृत मुदा पात्रसात् सिङ्गणार्यः॥"

इन श्लोकों का भावार्थ यही है कि शिंगण ने असंख्य सम्पत्ति का दान दिया था। दानवस्तुओं में धान्यराशि, गुड, कपास, धृत तथा लवण जैसी सामान्य वस्तुएँ थीं। साथ ही साथ चाँदी, सोना तथा रत्नों का भी इनमें समावेश था। इस कथन में अत्युक्ति की मात्रा को छोड़ देने पर भी यह निश्चित है कि सायण के ये तृतीय पुत्र धन-धान्य से जिस प्रकार सम्पन्न थे, उसी प्रकार उदारता के भाव से प्रेरित होकर संख्यातीत दान देने का भी उनका स्वभाव था। संक्षेप में सायणाचार्य के कुटुम्ब का यह सामान्य वर्णन है।

(६)

सायण-माधव के गुरु

किसी महान् व्यक्ति के व्यक्तित्व को सच्चे रूप में परखने के लिए उसके चरित्र को उस विशिष्ट ढंग में ढालनेवाले—चरित्र के निर्माता—कारणों का पर्याप्त अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। किसी वृक्ष की वर्तमान स्थिति तथा प्रवृद्धि को यदि हम सचमुच समझना चाहते हैं तो उसे इस रूप में परिणत करने वाले कारण-कलापों की छान-बीन करनी पड़ेगी। किसी व्यक्ति-विशेष के उदात्त चरित्र; अनुकरणीय आदर्श तथा श्लाघनीय शील-सौन्दर्य की विशेषता तथा अनुपमता की यदि हम सच्चे रूप से परीक्षा करना चाहें, तो यह हमारे लिए नितान्त आवश्यक है कि उन साधनों का परिशीलन किया जाय, जिन्होंने उसके जीवन को उस दिशा में प्रवर्तित तथा परिवर्तित किया है। इन नियामक कारणों का समुचित प्रकार से अध्ययन किये बिना हम किसी महान् व्यक्ति के छिपे हुए जौहर को भलीभाँति नहीं समझ सकते। सायणाचार्य एक महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष थे। उनका जीवन-चरित 'जायस्व म्रियस्व' वाले साधारण मानवों के जीवनचरित की तरह क्षुण्ण मार्ग से प्रवाहित नहीं हुआ था। उन्होंने अपने विद्या-वैभव तथा व्यवहार-नैपुण्य के कारण अपने लिए एक विशिष्ट मार्ग बनाया, जिस पर ये अपने जीवन के सन्ध्याकाल में भी उसी उत्साह, उसी आसक्ति तथा उसी प्रेम के साथ एकरंग डटे रहे; जिस प्रकार अपने यौवनकाल में। इन्होंने संस्कृत-साहित्य को एक गौरवमयी विभूति प्रदान की तथा भारतीय इतिहास में एक महान् आदर्श को लाकर उपस्थित किया। ऐसे महान् पुरुष के चरित्र की कुंजी खोजने के लिए हमें उनकी शिक्षा-दीक्षा, महान् आत्माओं के व्यापक प्रभाव तथा अन्य एतादृश कारणों का अध्ययन करना चाहिए। सायणाचार्य का शिक्षण किस प्रकार हुआ? किन शास्त्रों की शिक्षा इन्हें दी गयी? इनका बाल्यकाल किस प्रकार बीता? इनके बाल्यकाल में भविष्य ओजस्विता तथा विद्वत्ता की सत्ता का आभास किस प्रकार लोगों को मिला करता था? इन प्रश्नों के समुचित उत्तर देने के साधन आज पाँच सौ वर्षों के अनन्तर न तो हमारे पास वर्तमान ही हैं और न खोज करने पर भी उनके भविष्य में प्राप्त होने की आशा ही है। इनके तथा इनके भ्राताओं के ग्रन्थों के अनुशीलन करने से हम केवल कतिपय विद्वानों का परिचय प्राप्त करते हैं, जिन्हें ये अपना गुरु मानते थे तथा जिनके चरित्र तथा शिक्षण का प्रभाव सायण के जीवनचरित पर अवश्यमेव पड़ा होगा। परन्तु इन गुरुओं में से किससे इन्होंने कितना ज्ञान सम्पादन किया, किससे इन्होंने अपने लिए कितनी व्यवहार-कुशलता सीखी, इसका ठीक-ठीक उत्तर उपयुक्त साधनों के अभाव से हम आज नहीं दे सकते। इनके गुरुओं के विषय में जितना भी विवरण हम प्रस्तुत कर पाये हैं, उसी को हम बहुत समझते हैं तथा

आशा करते हैं कि प्राचीन चरित लिखने की कठिनाइयों को अनुभव करनेवाले सहृदय पाठक इस विवरण पर ही सन्तोष करेंगे।

विद्यातीर्थ

सायणाचार्य के ग्रन्थों में इनके तीन गुरुओं के होने का पता चलता है, परन्तु सब से अधिक आदर इन्होंने विद्यातीर्थ के प्रति दिखलाया है। सच तो यह है कि विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठाचार्य उस समय के अत्यन्त प्रख्यात तथा आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न यति थे। ये सायण तथा उनके दोनों भाइयों के ही गुरु नहीं थे, प्रत्युत तत्कालीन विजयनगर के नरेशों के भी ये अध्यात्म मार्ग की शिक्षा देनेवाले गुरु थे। उस समय के ग्रन्थों में इनका विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। इन तीन गुरुओं का सादर नामोल्लेख माधवाचार्य ने अपने 'कालनिर्णय' में इस प्रकार किया है—

"सोऽहं प्राप्य विवेकतीर्थपदवीमाम्नायतीर्थे परं,
मज्जन् सज्जनसंगतीर्थनिपुणः संद्वृत्ततीर्थं श्रयन्।
लब्धामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतो,
विद्यातीर्थमुपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम्॥"

इनमें सबसे पहले विद्यातीर्थ का उपलब्ध वर्णन किया जायगा। विद्यातीर्थ स्वामी अपने समय के एक पहुँचे हुए महात्मा थे। ये परमात्मतीर्थ के शिष्य थे। इन्होंने 'रुद्रप्रश्नभाष्य' की रचना की है। ये त्रिदण्डी स्वामी थे तथा शंकराचार्य के आदिम तथा सर्वश्रेष्ठ पीठस्थान शृंगेरी के पदाधिष्ठित आचार्य थे। माधवाचार्य तथा सायणाचार्य की इन पर अगाध भक्ति तथा अनुपम श्रद्धा थी। इन दोनों भाइयों के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ में विद्यातीर्थ का उल्लेख जिन शब्दों में किया गया है, उनसे जान पड़ता है कि वे इन्हें साक्षात् परमात्मा का रूप मानते थे। माधव के 'जीवन्मुक्तिविवेक' के आरम्भ में तथा सायण के वेदभाष्यों के आरम्भ में यह सुप्रसिद्ध श्लोक[1] मिलता है, जिसमें विद्यातीर्थ महेश्वर के साक्षात् स्वरूप माने गये हैं :—

"यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥"

इसी प्रकार 'न्यायमालाविस्तर' में माधव ने विद्यातीर्थ को एक बार परमात्मा

---

१. यह सुप्रसिद्ध श्लोक जिन ग्रन्थों के मंगलाचरण रूप में पाया जाता है, वे माधव या सायण की निःसन्दिग्ध रचना मानी जा सकती हैं। इस श्लोक की टीका अच्युतराय मोडक कृत 'जीवन्मुक्तिविवेक' की व्याख्या में अत्यन्त विद्वत्ता के साथ की गयी है। जिज्ञासु पाठक इसे अवश्य पढ़ें।

कह कर निर्दिष्ट किया है[1] तथा दूसरी बार भगवान् शिव की अनुग्रहमूर्ति मान कर वर्णन किया है।[2] 'अनुभूतिप्रकाश' में माधव ने अन्तर्यामिश्रुति के द्वारा कथित, अन्तःस्थल में प्रवेश कर शासन करनेवाले विद्यातीर्थ स्वामी को अपना मुख्य गुरु माना है।[3] 'जीवन्मुक्तिविवेक' के अन्त में माधवाचार्य की यह उक्ति, कि इस जीवन्मुक्ति के विवेक से महेश्वर-रूपी विद्यातीर्थ स्वामी मेरे हृदय के अन्धकार को दूर करके मुझे सम्पूर्ण पुरुषार्थों को प्रदान करें, गुरु के प्रति शिष्य के मनोगत भावों को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त कर रही है[3]। सायणाचार्य ने भी इन्हीं शब्दों में गुरुवर्य विद्यातीर्थ से शतपथ ब्राह्मण' के भाष्य के अन्त में प्रार्थना की है कि यह 'वेदार्थप्रकाश' गुरु की कृपा से उनके हृदय के अन्धकार को दूर करे तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देकर उन्हें इस भूतल पर परम सौभाग्यशाली बनाये[4]। पूर्वोक्त उल्लेखों से पता चलता है कि माधव तथा सायण विद्यातीर्थ के विशेष ऋणी थे तथा बहुत सम्भव है कि हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के पुनरुज्जीवन के प्रति इन भ्रातृद्वयी के उत्साह के मुख्य कारण किसी-न-किसी रूप में ये ही विद्यातीर्थ स्वामी हों। माधवाचार्य अपने गुरु के प्रति केवल शाब्दिक धन्यवाद प्रदर्शित कर के ही सर्वथा सन्तुष्ट न हुए और न इतने से उन्होंने अपनी गुरुभक्ति को चरितार्थ समझा, प्रत्युत विजयनगर के अधीश बुक्कराय की आर्थिक सहायता से इन्होंने शृंगेरी में एक सुन्दर मन्दिर बनवाया, जिसमें विद्यातीर्थ की 'विद्याशंकर' के नाम से मूर्ति स्थापित करवायी। यह मूर्ति आज भी माधवाचार्य की गाढ़ गुरुभक्ति को उद्घोषित करती हुई अपने स्थान पर विराजमान है।

भारतीतीर्थ

भारतीतीर्थ की भी कृपा इन तीनों भाइयों पर कम न थी। ये स्वामीजी विद्यातीर्थ के अनन्तर शृंगेरीपीठ पर १२५५ शक (=१३३३ ई०) में शंकराचार्य बन कर प्रतिष्ठित हुए।[5] १३४६ ई० में जब हरिहर ने अपने पाँचों भाइयों के साथ विजय के उपलक्ष्य

---

१. प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्।
जैमिनीयन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्।
—जै० न्या० वि०।

२. विद्यातीर्थमुनिस्तदात्मनि लसन्मूर्तिस्त्वनुग्राहिका। —वही।

३. अन्तः प्रविष्टः शास्तेति अन्तर्यामिश्रुतीरितः।
सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ —अनुभूतिप्रकाश

४. जीवन्मुक्तिविवेकेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थमखिलं देयात् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ —जीवन्मुक्तिविवेक

५. शृंगेरी का मठाम्नाय।

में शृंगेरी की यात्रा की तथा वहाँ के विद्वान् ब्राह्मणों को अग्रहार दान दिया, तब भारतीतीर्थ श्रीपाद ही शृंगेरी के मठाधीश थे। सायण के ग्रन्थों में भारतीतीर्थ का उल्लेख हमें अब तक नहीं मिला है, परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थों में आपका अनेक बार निर्देश मिलता है। अतः तीनों भाइयों में माधव का आप के प्रति विशेष अनुराग तथा प्रेम दीख पड़ता है। 'कालनिर्णय' के उपोद्घात में माधव ने 'लब्ध्वामाकलयन् प्रभावलहरीं श्री भारतीर्थतो' लिखकर भारतीतीर्थ के उपदेशों का प्रभाव अपने ऊपर व्यक्त शब्दों में स्वीकृत किया है। इतने से ही इनकी भक्ति की इतिश्री नहीं होती, बल्कि भारतीतीर्थ के ऋण को माधव ने अन्य प्रकार से भी माना है। माधवाचार्य ने संन्यास-ग्रहण कर विद्यारण्य मुनि के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। इस अवस्था में माधव ने जिन ग्रन्थों की रचना की, उन सब में इन्होंने अपने गुरु भारतीतीर्थ को भी लेखक के नाम से उल्लिखित किया है। जान पड़ता है कि माधवाचार्य ने भारतीतीर्थ से संन्यास ग्रहण किया था तथा उनके अनन्तर शृंगेरी मठ के अध्यक्षपद पर सुशोभित हुए। अतः संन्यासाश्रम ग्रहण करने के अनन्तर विरचित ग्रन्थों में भारतीतीर्थ का लेखक के रूप में निर्देश मिलना स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि युक्तियुक्त भी है। प्रसिद्ध 'पञ्चदशी' भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य स्वामी की सम्मिलित रचना मानी जाती है। रामकृष्ण भट्ट ने पञ्चदशी की टीका में 'पञ्चदशी' को इन दोनों महात्माओं की रचना मानी है। इसी प्रकार कुछ लोगों की सम्मति में वेदान्त सूत्रों पर लिखी गई 'वैयासिकन्यायमाला' भी इन दोनों की सम्मिलित रचना है, परन्तु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है। अतएव माधव का भारतीतीर्थ मुनि के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन नितान्त उचित है। श्री भारतीतीर्थ की निम्नलिखित स्वतन्त्र रचनाएँ मानी जाती है : (१) 'दृग्दृश्य-विवेक' : इसका दूसरा नाम 'वाक्यसुधा' ही विशेष प्रसिद्ध है। इसकी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं : ग्रन्थकार के शिष्य श्रीमद् ब्रह्मानन्द भारती रचित और आनन्दज्ञान या आनन्दगिरि रचित। दोनों टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। पहली विद्याविलास प्रेस, काशी से और दूसरी पण्डित दुर्गाचरण चट्टोपाध्याय कृत विस्तृत बंगला अनुवाद के साथ काशी से। श्री दुर्गाचरण जी का यह अनुवाद ब्रह्मानन्द भारती की टीका ही का है, परन्तु है बड़ा पाण्डित्यपूर्ण। यह भी काशी से ही रत्नपिटक ग्रन्थावली में प्रकाशित हुआ है। नाम के अनुसार ही इस छोटे से ग्रन्थ में दृग् = आत्मा और दृश्य = जगत् का बड़ा ही मार्मिक विवेचन है। (२) 'वैयासिकन्याय-माला' : 'ब्रह्मसूत्र' के समस्त अधिकरणों का सारांश इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में उपस्थित किया गया है। साधारणतः दो श्लोक प्रत्येक अधिकरण के लिए रखे गए हैं। पहले में है पूर्वपक्ष का उत्थापन और दूसरे में सिद्धान्त का निरूपण। इसी ग्रन्थ के आदर्श पर, जान पड़ता है, माधव ने 'जैमिनीयन्यायमाला' की रचना की। कुछ टीकाकार

इस 'वैयासिकन्यायमाला' में भी माधव को कारण मान कर इसे गुरु-शिष्य की सम्मिलित रचना मानते हैं। इसका एक सुन्दर संस्करण 'आनन्दाश्रम' पूना से प्रकाशित हुआ है।

श्रीकण्ठ

सायण के अन्तिम गुरु का नाम आचार्य श्रीकण्ठ था। इनका उल्लेख काञ्ची के शिलालेख में 'श्रीकण्ठनाथो गुरुः' कह कर किया गया है, अतः इन्हें सायण के गुरु होने में तनिक भी सन्देह नहीं। माधवाचार्य ने 'कालनिर्णय' में 'हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम्' लिख कर इनके प्रति अपने श्रद्धाभाव को साधुरूप में दिखलाया है। भोगनाथ कवि भी अपने ज्येष्ठ भ्राताओं की भाँति इनके शिष्य थे, इसका पता हमें उनके 'महागणपतिस्तव' से चलता है। श्रीकण्ठ को अपना प्रधान गुरु अभिव्यक्त करते हुए भोगनाथ ने लिखा है—

"मन्दारश्च तरुः परेऽपि तरवो मेरुश्च शैलः परे-
ऽप्याःशैलाः कमलागृहस्थशयनं चाब्धिः परेप्यब्धयः।
श्रीकण्ठश्च गुरुः परेऽपि गुरवो लोकत्रयेऽप्यद्भुतं
भक्ताधीन भवांश्च दैवतमहो सर्वेऽप्यमी देवताः॥"

इन तीनों उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीकण्ठनाथ तीनों भाइयों के गुरु थे।

इतना ही नहीं, ये महाराज संगम (द्वितीय) के भी गुरु थे तथा उन्हें सदा आध्यात्मिक मार्ग की शिक्षा दिया करते थे। संगम की भी श्रीकण्ठनाथ पर असीम भक्ति थी। बिट्रगुण्ट प्रशस्ति में उल्लिखित अग्रहार का दान इन्हीं श्रीकण्ठनाथ की इच्छा से संगम ने किया था। इस शिलालेख[1] से पता चलता है कि आचार्य

---

१. स कदाचित् प्रियं शिष्यं संगमेन्द्रमुपस्थितम्।
न्यदिशत् देशिको दृष्ट्या निर्भरप्रेमगर्भया॥
अग्रहारं कमप्यत्र त्वया दापयितुं मम।
प्रीतिरस्ति ततः कश्चित् ग्रामो राजन् प्रदीयताम्॥
इति तस्य गुरोराज्ञामीशिता धरणीभृताम्।
अग्रहीदञ्जलिं ग्रन्थन् अवनम्रेण मौलिना॥
बिट्टरगुण्टमितीह प्रथितापरनामशालिनस्तस्य।
प्रकटयति स्म यमीन्द्रप्रायः श्रीकण्ठपुरमिति प्रख्याम्॥
—एपि० इण्डिका, भाग ३, पृष्ठ २६-२७।

श्रीकण्ठ ने एक समय उनकी सेवा में उपस्थित अपने प्रिय शिष्य संगम भूपाल से कहा कि "राजन्! तुम्हारे हाथ से किसी अग्रहार को दिलाने की मेरी बड़ी इच्छा है। अतः किसी गाँव को ब्राह्मणों को दे डालो।" गुरु की इस आज्ञा को राजा ने नतमस्तक हो कर स्वीकार किया तथा उनकी इच्छा के अनुसार तीस ब्राह्मणों को एक बड़ा बिट्रगुण्ट गाँव अग्रहार दे दिया और गुरु की पुण्यस्मृति सतत बनाये रखने के लिए राजा ने उस ग्राम का नाम 'श्रीकण्ठपुर' रख दिया।

'श्रीकण्ठनाथ' नाम से भी पता चलता है कि ये नाथपन्थी महात्मा थे। भोगनाथ ने इन्हें अपने प्रिय शिष्य संगम को अध्यात्म का उपदेश देने वाले करुणावतार शंकर का साक्षात् प्रतिनिधि कहा है।[१] ये उस समय के एक अतीव प्रख्यात माहेश्वर तत्त्वों के व्याख्याता शैवपति प्रतीत होते हैं। जब ये माहेश्वर तत्त्वों का उपदेश देते थे, तब मालूम पड़ता था कि किसी प्राचीन नाथ महात्मा की आत्मा श्रीकण्ठ के रूप में बोल रही है।[२] भोगनाथ का तो यहाँ तक कहना है कि "इनके पादपंकजों के प्रणाम करने से ही मुक्ति सहचरी की तरह समीप में ही निवास करती है। जो लोग मुक्ति के पाने की अभिलाषा से तपस्या करते हैं, वे बेचारे तो केवल अपने शरीर को सुखा रहे हैं। सुभग तथा सरल उपाय के रहते तपस्या करना केवल कायशोषण नहीं तो और क्या है?[3] उनके कटाक्ष मुक्ति के द्वार खोलने के लिए कुंजी के समान हैं।"[४] इनके प्रति इन पवित्र भावों से हम समझ सकते हैं कि ये बड़े ही अध्यात्म-शास्त्रवेत्ता थे, सिद्ध थे, महात्मा थे तथा राजदरबार में भी इनकी प्रचुर ख्याति थी। संक्षेप में, ये तीनों गुरु अपने समय के सिद्ध पुरुष थे।

---

१. इत्थं सर्वगुणोपरञ्जककलामीदृग्विधामेयुषः
तस्य क्षोणिपतेरपारयशसस्तत्त्वोपदेशक्रियाम्।
कर्तुं कामपि वासनामुपनयन् कारुण्यवारांनिधिः
श्रीमान् सन्निधिमादधत् पशुपतिः श्रीकण्ठनाथात्मना॥

२. माहेश्वराणां तत्त्वानां मान्ये यस्मिन् प्रदर्शके।
प्राचामदर्शि नाथानां प्रायेण नवता भुवि॥

३. यत्पादानतिमात्रेण यतीनां मुक्तिरन्तिके।
क्रियते तपसा किन्तु केवलं कायशोषणम्॥

४. कैवल्यपदवीद्वारकपाटोद्घाटकर्मणि।
कटाक्षाः कुञ्जिका यस्य कांक्षतां तत्र निर्वृतिम्॥

(२)

सायणाचार्य का जीवन-चरित

सायणाचार्य के गुरुओं के संक्षिप्त वर्णन के अनन्तर उनके जीवन की घटनाओं का सुसम्बद्ध वर्णन नितान्त आवश्यक है। इस कार्य के साधन इतने स्वल्प हैं कि लेखक को इसकी सत्यता जाँचने के लिए पद-पद पर उलझन में पड़ना पड़ता है। सायण के ग्रन्थों में तथा विजयनगर के प्राथमिक भूपालों के शासन-पत्रों में उपलब्ध साधन का यहाँ उपयोग सावधानता से किया जा रहा है। सायण के जीवन की घटनाओं का तिथिक्रम से यहाँ निर्देश किया जा रहा है और लेखक का विश्वास है कि अब तक किसी लेखक ने इस कार्य को इस ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। डॉक्टर औफ्रेक्ट के लेखानुसार सायण की मृत्यु विक्रम संवत् १४४४ (ईस्वी सन् १३८७) में हुई।[1] उनकी अवस्था उस समय ७२ (बहत्तर) साल की थी। अतः सायणाचार्य का जन्म वि० सं० १३७२ (ई० सन् १३१५) में हुआ। धन्य हैं इनके जनक मायण और धन्य हैं इनकी जननी श्रीमती, जिनके घर वेदार्थसंस्थापक हिन्दूधर्मोद्धारक सायणाचार्य का जन्म हुआ। इससे लगभग १५ वर्ष पहले इनके ज्येष्ठ भ्राता माधव विद्यारण्य का जन्म हुआ वि० सं० १३५७ (ई० सन् १३००) में हो चुका था। सायण अपने माता-पिता के दूसरे पुत्र थे। इनके माता-पिता साधारण स्थिति के ब्राह्मण गृहस्थ थे। अतः इनका बाल्यकाल विशेष समृद्धि तथा सौख्य में बीता होगा, इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। इतना तो हमें बाध्य होकर कहना पड़ेगा कि बचपन में इनको बहुत ही अच्छी शिक्षा दी गई होगी। बिना व्याकरण-ज्ञान के संस्कृत भाषा तथा साहित्य के विशाल दुर्ग में प्रवेश करना एक प्रकार से असम्भव ही है। अतः पाणिनीय व्याकरण की सुचारु शिक्षा इन्हें दी गयी थी। तभी तो आगे चलकर इन्होंने 'माधवीया धातुवृत्ति' की रचना कर व्याकरण के विद्यार्थियों के लिए एक प्रामाणिक ग्रन्थरत्न प्रस्तुत कर दिया। व्याकरण शास्त्र में इनका कितना प्रगाढ़ पाण्डित्य था, इसका पता उन पाठकों को सहज में लग सकता है, जो 'ऋग्वेद' के प्रथम अष्टक के भाष्य की परीक्षा करने का कष्ट उठायेंगे। सायण ने प्रथमाष्टक के विस्तृत भाष्य में एक-एक वैदिक पद की सिद्धि इतने अच्छे तथा व्यवस्थित ढंग से दिखलायी है कि सायण के महावैयाकरण होने में रंचकमात्र भी संशय नहीं रहता। व्याकरण के बाद मीमांसा में भी इनको विशेष प्रवीणता प्राप्त थी। अतः बाल्यकाल में इन्होंने मीमांसा का सुव्यवस्थित अध्ययन किया होगा। इनके जेठे

---

१. कैटेलोगुस कैटेलोगारुम (बृहत्सूची), पृ० ७११।

भाई माधव मीमांसा के एक प्रकार से आचार्य ही माने जाते हैं। बहुत सम्भव है कि सायण ने माधव से ही यह आवश्यक विषय पढ़ा हो। सायण की अपनी संहिता कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीय संहिता' है। अतः इस संहिता का भी अध्ययन तथा मनन इन्होंने विशेष मनोयोगपूर्वक अवश्य किया होगा। इनके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के अन्य विभागों में भी इन्होंने अभिज्ञता प्राप्त की होगी। सायणाचार्य का बाल्य-काल अपने जीवन की लक्ष्यसिद्धि की तैयारी करने में बीता होगा। उनके जीवन का सर्वोत्तम कार्य वेदभाष्य का प्रणयन है। अतः इस काल में तदुपयोगी विषयों में इन्होंने अपनी अभिज्ञता प्राप्त कर ली होगी। इनके आरम्भिक जीवन के विषय में हम वर्तमान गवेषणा के आधार पर इससे अधिक नहीं कह सकते।

कम्पण के मन्त्री

सायणाचार्य के जीवन की जवनिका जब उठती है, तब हम उन्हें ३१ वर्ष की उम्र में राज्य-प्रबन्धक मन्त्री के रूप में पाते हैं। इससे पहले सायण के आरम्भिक तीस वर्षों का वृत्त अभी तक अन्धकार के पर्दे में छिपा हुआ है; वि० सं० १४०३ (सन् १३४६) में इकत्तीस साल की उम्र में सायणाचार्य हरिहर के अनुज कम्पण के राज्य के मन्त्री थे। इस वर्ष के नेल्लोर जिले के 'कोडवलूर' स्थान से मिले हुए शिलालेख[१] से सायण के ओडयलु 'कम्पणति ओडयर' (प्रसिद्ध नाम कम्पण-भूपाल) के महाप्रधान (प्रधान मन्त्री) होने का पता चलता है। उसी स्थान से बिना तिथि का एक और शिलालेख मिला है, जिसे पोट्टरासु नामक किसी व्यक्ति ने सायण ओडयलु के आज्ञानुसार उत्कीर्ण किया था।[२] इन शिलालेखों के 'सायण ओडयलु' हमारे चरितनायक सायणाचार्य ही हैं। 'सुभाषित-सुधा-निधि' की पुष्पिका में सायण ने अपने को "पूर्व पश्चिम समुद्राधीश्वर श्री कम्पराज-महा-प्रधान" लिखा है।[३] पूर्वोक्त शिलालेख तथा इस ग्रन्थ के आधार पर ही हमने सायण को हरिहर के अनुज कम्पराज का प्रधान मन्त्री माना है। सायण नौ वर्ष तक कम्पण के महामन्त्री रहे। सम्भवतः १२७७ शक. सं० (१३३५ ईस्वी) में कम्पण की मृत्यु हो गयी।[४] अतः वि० सं० १४०३ से लेकर १४१२ तक (१३४६ से १३५५ ई० तक) अर्थात् जब तक कम्पण ने विजयनगर के पूर्वी प्रदेशों पर शासन किया, तब तक इन्होंने पूरे नौ वर्ष तक शासन की बागडोर अपने हाथ में रखी।

१. एपिग्राफिका कर्नाटिका, भाग ६, पृ० १०४।

२. वही पृ० ७६१।

३. देखिए, 'वेदभाष्य भूमिका संग्रह' की मेरी संस्कृत प्रस्तावना, पृ० ३।

४. एपिग्राफिका इंडिका, भाग ३, पृ० २३।

संगम के शिक्षक

वि० सं० १४१२ (ई० सन् १३५५) में जब कम्पण नरेश ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की तब उनके एकमात्र पुत्र संगम (द्वितीय) अभी तक निरे बालक थे। सायण साम्राज्य के प्रधान मन्त्री थे। अतः कम्पण ने अपने सन्तान तथा साम्राज्य, दोनों के निरीक्षण का भार अपने कुशल मन्त्री के समर्थ हाथों में छोड़कर बड़ा ही नीतियुक्त कार्य किया; क्योंकि प्रधान मन्त्री से बढ़कर इस कार्य को सम्पन्न करने की उपयुक्तता ही किसमें हो सकती थी ? मन्त्री महोदय ने भी जिस खूबी से, जिस तत्परता से, इस कार्य को अपनी शक्तिभर निबाहा, वह भी देखने ही लायक है। राजनीति-कुशल आचार्य सायण ने बालक संगम को अपनी देख-रेख में रखा तथा भावी राजा के लिए उपयोगिनी समस्त विद्याएँ इन्हें पढ़ा डाली। अनुगत तथा श्रद्धालु शिष्य को जैसा होना चाहिए, संगम ने भी अपने शिक्षक के प्रति उसी तरह का व्यवहार किया। सायण की योग्य शिक्षा का यह प्रभाव हुआ कि संगम नरेश राजनीति के प्रयोगों में अत्यन्त प्रौढ़ बन गये। भला ! जहाँ सायण जैसे विद्वान् तथा कार्यकुशल आचार्य तथा संगम जैसा श्रद्धालु शिष्य हो, वहाँ सुशिक्षा का अमृतमय फल नहीं फलता, तो यह आश्चर्य की ही बात होती। अतः 'अलंकार-सुधानिधि' का यह कथन नितान्त तथ्य प्रतीत होता है—

"सम्यक् शिक्षां सचिवगमितः शैशवे सायणार्य ।
प्रौढ़िं गाढां प्रकटयति ते संगमेन्द्रः प्रयोगे ॥"

संगम के राज्य प्रबन्धक

सायण ने बालक संगम को शिक्षा देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझी, बल्कि समस्त राज्य के प्रबन्ध-भार को भी इन्होंने बड़ी योग्यता से निबाहा। राजा के नाबालिग होने का समय राजनीतिक उथल-पुथल तथा आन्तरिक अशान्ति का समय हुआ करता है, परन्तु सायण ने इतनी कुशलता से शासन का प्रबन्ध किया कि राज्य में कहीं भी गड़बड़ी मचने न पायी। उनके समय में प्रजा अत्यन्त सुखी थी; चारों ओर सौख्य तथा शान्ति का साम्राज्य था; सांसारिक समस्त भोगों की प्राप्ति उन्हें उस समय थी। अतः सायणाचार्य के सुशासन की इस प्रशंसा को अतिशयोक्ति न समझ कर स्वभावोक्ति ही समझनी चाहिए—

"सत्यं महीं भवति शासति सायणार्ये ।
सम्प्राप्तभोगसुखिनः सकलाश्च लोकाः ॥"

रण-विजयी सायण

सायण ने साम्राज्य के प्रबन्ध करने में ही अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं किया, प्रत्युत साम्राज्य के विस्तार करने में भी अपना ध्यान लगाया। राज्य

के ऊपर आक्रमण करनेवालों को ही सायण ने ध्वस्त नहीं किया, बल्कि राज्य के विस्तार-कार्य के लिए उन्होंने समीपवर्ती राजाओं के ऊपर आक्रमण भी किया। सायण ने अपनी उम्र के ४०वें वर्ष में संगम के राज्य-प्रबन्धकार्य को अपने हाथ में लिया और लगभग आठ वर्षों तक यह कार्य निरन्तर उत्साह से निबाहा। अतः राज्य के विस्तार के लिए उन्होंने जब संग्रामों में शत्रुओं को परास्त किया, तब उनकी अवस्था पैंतालीस वर्ष की अवश्य होगी। आजकल इस उम्र के पुरुष तो अपने को वृद्ध समझने लगते हैं तथा परलोक के चिन्तन में अपने समय को बिताने में अपना अहोभाग्य समझते हैं, परन्तु पैंतालीस वर्ष के सायण के हृदय में वीरता का स्फुरण हो रहा था, उनकी नस-नस में गरम रुधिर का संचार हो रहा था, संग्राम में शत्रुओं को परास्त करने की शुभेच्छा उनके हृदय में हिलोरें मार रही थी। अतः सायणाचार्य ने इस उम्र में वह-वीर कार्य कर दिखलाया, जो युवको के ईर्ष्या का पात्र हो सकता है। अलङ्कार-सुधानिधि का कहना है[1] कि जब जगद्वीर प्रभुवर सायण के हाथ में कृपाण जग रहा है, तब शत्रु लोग वृथा गर्व दिखलाकर गर्जन क्यों कर रहे हैं? बेचारे क्या जानें कि यह चमकती तलवार उनके हृदय का खून बिना पीये न रुकेगी।

'अलङ्कार-सुधानिधि' के निम्नलिखित पद्यों में भी सायण की युद्ध-कुशलता का वर्णन किया गया है—

"समरे सपत्नसैन्यं सायण ! तव बिम्बितं वहन् खड्गः।
क्रीडति कैटभरिपुरिव बिभ्रत् क्रोडे जगत्त्रयं जलधौ ॥"

× × ×

अमुं शमित-शात्रवस्थिरभुजावलेपोदयं
समीक्ष्य युधि सायणं समधिको भवेद् विस्मयः।
नखाग्रहतवैरिणो नरहरेर्हरस्याथवा
नवाम्बुजदलोल्लसन्नयनमात्रदग्धद्विषः ॥"

सायण की विस्मयकारिणी रणचातुरी का सुभग परिणाम भी सद्यः देखने में आया। चम्प नामक राजा को, जिसे विशेष सम्पत्ति ने अपना कृपापात्र बनाया था; जीतकर सायणाचार्य ने अतुल कीर्ति पैदा की।[2] यह चम्प नरेन्द्र चोल देव का राजा था; विरञ्चिपुरम् इसकी राजधानी थी तथा काञ्ची के आसपास के प्रदेश पर वह

१. "जगद्वीरस्य जागर्ति कृपाणः सायणप्रभोः।
किमित्येते वृथाटोपा गर्जन्ति परिपन्थिनः ॥"

२. दिष्ट्वा दैष्टिकभाव-संभृतमहा-सम्पद्विशेषोदयं
जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशाः प्रत्यागतः सायणः। —अलं० सुधा०।

शासन करता था। कृष्णस्वामी[1] का कहना है कि इस चम्पराय का असली नाम 'शम्भुवराय' था। सायण के द्वारा परास्त किये जाने पर भी वह उसी स्थान पर बना रहा। कुछ समय पीछे बुक्क प्रथम के पुत्र कुमार कम्पण ने अपने सेनापतियों के साथ शम्भुवराय के साथ लड़ाई लड़ी थी। 'मधुरा-विजय' में कुमार कम्पण की इस विजयवार्ता को गंगादेवी ने बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है। इतना ही नहीं सायण ने संगम नरेश के साथ 'गरुड़नगर' नामक स्थान के राजा के ऊपर आक्रमण किया तथा उसे परास्त कर अपने वश में किया, इनका उल्लेख एक शिलालेख में किया गया मिलता है।

इन सब वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सायणाचार्य केवल प्रतिभाशाली विद्वान् होने के अतिरिक्त सुयोग्य शासक थे। साथ ही साथ एक रण-कार्यकुशल वीर विजेता भी थे। इतने विभिन्न गुणों का एक व्यक्ति-विशेष में रहना कम आश्चर्यजनक नहीं है। सायण ने संगम भूपाल का मन्त्रित्व लगभग आठ वर्षों वि० सं० १४१२ से लेकर वि० सं० १४२० (१३५५-१३६३ ई०) तक अनेक युद्धों में भाग लेते तथा अनेक उपयोगी पुस्तकों की रचना करते हुए बड़ी योग्यता के साथ सम्पन्न किया।

बुक्क प्रथम का मन्त्रित्व

वि० सं० १४२१ (१३६४ ई०) का एक शिलालेख नल्लूर शहर से मिला[2] है, जिसमें लिखा है कि 'श्रीमान् महामण्डलेश्वर वीर श्री सावण्ण (सायणा) ओडयलु ने पृथ्वी पर शासन किया।' इस शिलालेख में संगम भूपाल का नाम उल्लिखित नहीं है, जिससे प्रोफेसर हेरास ने यह परिणाम निकाला है[3] कि संगम उस समय राज्य प्रबन्ध के कार्य से पृथक् सा हो गया था। अतः सायणाचार्य बुक नरेश की अधीनता में ही नल्लूर प्रान्त का शासन वि० सं० १४२१ में कर रहे थे। अतः इस वर्ष के पहले ही सायण बुक्क की अधीनता में कार्य करने लगे थे। इसके कुछ ही वर्ष बाद सायण विजयनगर राजधानी में आ गये और महाराज बुक्क के यहाँ भी मन्त्रिपद पर अधिष्ठित हो गये। इस समय सायण की अवस्था लगभग ४८ वर्ष की थी। बुक्क के यहाँ सायण ने लगभग १६ वर्षों तक वि० सं० १४२१से लेकर १४३७ तक (१३६४ ई०-१३८० ई०) मन्त्री के उत्तरदायी कार्य को सुचारु रूप से किया। सायण के जीवन का यही काल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसी मन्त्रित्व के समय में सायण ने वेदभाष्यों की रचना की। वेदभाष्य महाराज बुक्क की इच्छा

---

१. सोरसेज आफ विजयनगर हिस्ट्री, पृ० २५।

२. बट्टरवर्थ : इन्सक्रिपशन्स आफ नेल्लोर डिस्ट्रिक्ट, भाग २, पृ० ८४७।

३. हेरास : बिगिनिंग्स आफ विजयनगर हिस्ट्री, पृ० ९८।

तथा अनुज्ञा से बनाये गये, इसका वर्णन आगे किया जायेगा। ऋग्वेद-भाष्य की पुष्पिका में इसीलिए सायण ने अपने को 'वीर बुक्क साम्राज्य धुरन्धर' लिखा है। इस प्रकार वर्षों की अधिक संख्या तथा कर्मों की महनीयता के कारण श्री सायणाचार्य के जीवन के इस काल को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

हरिहर द्वितीय का मन्त्रित्व

वि० सं० १४३८ में (१३८१ ई० में) बुक्क महाराज ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की। उसी वर्ष उनके पुत्र हरिहर राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुए। क्रमानुसार पिता की मृत्यु के बाद सायण पुत्र के राज्य के भी मन्त्री हुए। हरिहर के शासन-काल में सायण अधिक दिनों तक मन्त्री न रहे। उस समय वे वृद्ध हो चले थे। उनकी उम्र हरिहर के मन्त्रित्व स्वीकार करने के समय लगभग ६६ वर्षों की थी; परन्तु फिर भी उनके शरीर में प्रबन्ध करने की शक्ति बनी हुई थी तथा अपने जीवन-कार्य को समाप्त करने का पर्याप्त सामर्थ्य उनके उन्नत मस्तिष्क में अब भी बना हुआ था। हरिहर की आज्ञा से सायण ने अवशिष्ट वैदिक संहिता तथा ब्राह्मण का भाष्य रच कर एक प्रकार से अपने जीवन-लक्ष्य को पूर्ण कर दिया। सायण केवल छः वर्षों ही तक वि० सं० १४३८-१४४४ (१३८१ से १३८७ ई०) तक हरिहर द्वितीय के अमात्य रहे। सं० १४४४ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में सायण ने हरिहर के राज्य-काल में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त की। इस प्रकार वृथावस्था में वेदभाष्यों के प्रवीण रचयिता, राजनीति के सुयोग्य विद्वान् तथा समरांगण में शत्रु विनाशकारी रणरंगधीर सायणाचार्य ने संसार में अनुपम कीर्ति फैला कर स्वर्गलोक को प्रस्थान किया।

चरित्र

सायणाचार्य के इस चरित्र का पर्यालोचन किस आलोचक को विस्मयसमुद्र में न डाल देगा? कहाँ तो सन्तत शास्त्राभ्यास से समुत्पन्न ज्ञानपरिपाक की सहचरी वैदिक तत्त्वों की मीमांसा में प्रगाढ़ प्रवीणता और कहाँ लौकिक व्यवहार के निरीक्षण से समुद्भूत विपुल राजकार्य धारणसमर्थ राजनीति के ज्ञान में विस्मयोत्पादिनी चातुरी! इन दोनों का समानाधिकरण्य सायणाचार्य में पाकर किसके हृदय में विचित्र आनन्दोल्लास हुए विना न रहेगा? सच तो यह है कि लोक तथा परलोक का—विद्वता तथा लोक-निपुणता का—व्यवहार और परमार्थ का—एक आश्रय में सदा निवास करना लोक में नितान्त दुर्लभ है। परन्तु सायण में इन्हीं विरुद्ध गुणों के सहवास होने में इस महापुरुष का चारु-चरित्र अलौकिकता की कोटि में पहुँचा हुआ कहा जा सकता है। सायण व्यावहारिक विषयों में जिस प्रकार चतुर थे, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषयों में भी जागरुक थे। सायण एक असाधारण

विद्वान् थे, महनीय मीमांसक थे। अतः उनका श्रुति के गूढ़ अर्थों का उद्घाटन करना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु एक कोरे पण्डित का विशाल साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में धारण करना तथा उसका अत्यन्त सुचारु रूप से संचालन करना असम्भव नहीं तो आश्चर्यजनक अवश्य है। यदि हम सायण को एक राज्य-प्रबन्धक अमात्य के रूप ही में पाते तो हमें विशेष विस्मय न होता, परन्तु एक मीमांसा—मांसलमति पण्डित को—शास्त्राभ्यास में अपने जीवन को बिताने वाले विद्वान् को—व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाने वाले वैयाकरण को—जब हम रक्तरंजित रण के प्राङ्गण में अपने हाथ में चमकता कृपाण चमकाते तथा प्रबल शत्रुओं के अभिमानोन्नत मस्तकों को छिन्न-भिन्न कर पादावनत करते तथा अपनी अदम्य वीरता का साक्षात् दृष्टान्त प्रस्तुत करते देखते हैं तो हमारा हृदय विस्मय से भर जाता है, चित्त विचित्रता से ओतप्रोत हो जाता है, मस्तिष्क ब्राह्मण्य के मान से उन्नत हो जाता है और सब से अधिक प्रतीति होने लगता है कि इस मध्यकालीन मीमांसक में भारत के राज्यसिंहासन पर चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठित करनेवाले अमात्य कौटिल्य की ही आत्मा नहीं झांक रही है, प्रत्युत इस कलियुगी ब्राह्मण-पण्डित के रूप में 'महाभारत' में अपने रणकौशल के जौहर दिखलानेवाले, रणरंगधीर द्रोणाचार्य की भव्य मूर्ति भी उल्लसित हो रही है। वास्तव में सायण प्राचीन पाण्डित्य के एक ऐसे आदर्श उदाहरण थे, जिसके लिए पीछे के समय छान-बीन करने पर भी अन्य कोई सुन्दर उदाहरण सामने नहीं आता। वह एक भव्य विभूति थे, जिसकी आभा इन साढ़े पाँच सौ वर्षों के दीर्घ काल के अनन्तर भी उसी प्रकार से चमक रही है तथा अभी तक फीकी नहीं हुई। अतएव सायण के चरित्र की विशालता तथा गुण-गरिमा से चमत्कृत आलोचकों को काञ्ची के शिलालेख की निम्नलिखित भावमयी पंक्तियों को बलात्कार दुहराना पड़ता है—

"भारद्वाजकुलेश सायण ! गुणैस्त्वत्तस्त्वमेवाधिकः।"

धन्य है सायणाचार्य ! और धन्य है उनका विचित्र चरित्र ! !

(३)

वेदभाष्य से भिन्न ग्रन्थ

सायणाचार्य जैसे व्यवहार-कुशल विद्वान् का जीवन-क्षेत्र सीमाबद्ध न था, एक ही दिशा में उन्होंने अपने कार्य-क्षेत्र को अग्रसर नहीं किया। जिस प्रकार उनकी कार्य-सीमा विपुल तथा विस्तृत थी, उसी प्रकार उनकी विद्वत्ता भी 'चतुरस्र' थी; सर्वांगीण थी। वेदों के गूढ़ परिचय से लेकर पुराणों के व्यापक पाण्डित्य तक, अलङ्कार सरणि के विवेचन से लेकर पाणिनि व्याकरण की आदरणीय अभिज्ञता

तक, यज्ञतन्त्र के अन्तः परिचय से लेकर वैद्यक जैसे उपयोगी शास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान तक सर्वत्र सायणाचार्य का प्रकृष्ट पाण्डित्य साधारण जनों के भी उपकार का कारण तथा प्रतिभाशाली विद्वानों के भी विस्मयपूर्ण आदर का पात्र बना हुआ है। संस्कृत साहित्य के प्रायः माननीय अनेक विभाग में सायणाचार्य ने अपनी रमणीय रचनाओं से स्तुत्य कार्य किया, परन्तु इनके साहित्यिक जीवन का चूड़ान्त महत्त्व इनकी वेद-भाष्यों की निर्मिति है। सायण ने लगभग तीस वर्ष की अवस्था से लेकर अपने जीवन के अन्तिम वर्ष तक लगातार अटूट परिश्रम तथा अदम्य उत्साह से ग्रन्थों की रचना की।

सायण अमात्य-पद पर अधिष्ठित होने तथा प्रधान मन्त्री के गुरुतर कार्य के सँभालने में लगे रहने पर भी पुस्तक-प्रणयन के कार्य से कभी भी उदासीन नहीं थे। उनका ध्यान उपयोगी ग्रन्थों के निर्माण की ओर सर्वदा आकृष्ट रहता था। सायण के जितने भी ग्रन्थों की उपलब्धि इस समय हो रही है, उन सब की रचना मन्त्रित्व-काल में ही हुई। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि या तो मन्त्रीकाल के पूर्व के ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं अथवा इन्होंने उस काल में किसी ग्रन्थ की रचना ही नहीं की। जो कुछ भी हो, आजकल सायण के उपलब्ध ग्रन्थों का उनके मन्त्रित्व-काल से गहरा सम्बन्ध है। अतः लेखक का अनुमान है कि अपने आश्रयदाता नरेश के प्रोत्साहन का ही यह परिणाम प्रतीत होता है कि विपुल राजकीय कार्यों में व्यग्र रहने पर भी सायण ने अपने आश्रय प्रदाता के सन्तोषार्थ तथा साधारण जनता के उपकारार्थ इन सुन्दर उपयोगी ग्रन्थों की रचना की! इसके लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण भी है कि बुक्क भूपाल की आज्ञा पाकर ही सायण ने वेदभाष्यों को रचा। अतः इन ग्रन्थों की रचना में राजा की आज्ञा तथा इच्छा ही विशेष महत्त्व की मानी जा सकती है। जिस प्रकार से हो, सायणाचार्य ने इन ग्रन्थों की रचना से संस्कृत साहित्य के रसिकों के ऊपर जो अनुग्रह किया है, जो महती कृपा दिखलाई है, वह वास्तव में नितान्त श्लाघनीय है। साधारण संस्कृतज्ञ सायण को केवल वेदभाष्यों के रचयिता के ही रूप में जानता है—और ऐसा मानना तथा जानना अत्यन्त उपयुक्त भी है—परन्तु फिर भी सायण ने केवल इन्हीं ग्रन्थों की रचना नहीं की है। डॉक्टर औफ्रेक्ट सायण के नाम से भिन्न-भिन्न पुस्तक-सूचियों में उल्लिखित पचासों ग्रन्थों का कर्तृत्व सायण के सिर पर मढ़ा है। परन्तु इन ग्रन्थों की परीक्षा से प्रतीत होता है कि किसी साधारण पंडित ने इनकी रचना स्वयं करके सायण के नाम से इन्हें व्यवहृत कर दिया। उन्होंने वेदभाष्यों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के विभिन्न भागों से सम्बन्ध सात ग्रन्थों की रचना की है, जो अकेले भी इनकी कीर्ति-कौमुदी को विद्योतित करने में सर्वथा पर्याप्त है।

यहाँ इन ग्रन्थों का यथासम्भव तिथिक्रम से वर्णन किया जावेगा।

(१) सुभाषित-सुधानिधि

सायणाचार्य ने वेदभाष्यों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों के नामकरण में समानता रखी है। उन्हें 'सुधानिधि' शब्द बड़ा प्यारा लगता-सा जान पड़ता है। अतः अपने ग्रन्थों को सुधानिधि नाम से अभिहित किया है। सायण के प्रथम आश्रयदाता कम्पण (१३४०-१३५४ ई०) के राज्यकाल में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।[1] अतः यह उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। पुरुषार्थ-चतुष्टय को सामने रख कर इसे चार पर्वों में बाँटा है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। सायण ने आगे चलकर पुरुषार्थ-सुधानिधि नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी, परन्तु इन दोनो में स्पष्ट पार्थक्य है। पुरुषार्थ-सुधानिधि में केवल वेदव्यास के ही तत्तद्विषयक श्लोक महाभारत तथा पुराणों से संगृहीत किये गए हैं, परन्तु इस सुभाषित-सुधानिधि में अन्य कवियों के पद्यों का संग्रह है। विषय एक ही है।

धर्म-पर्व में ३४ पद्धतियाँ तथा २०३ श्लोक हैं, अर्थ-पव में १३७ पद्धति और ६३७ श्लोक; काम-पर्व में ५२ पद्धति और २१५ श्लोक तथा मोक्ष-पर्व में १६ पद्धति और ६३ श्लोक। इस प्रकार इस पूरे ग्रन्थ में २३९ पद्धति तथा १११८ श्लोक हैं। ग्रन्थ काफी बड़ा है। इसमें अर्थ-पर्व अपेक्षाकृत सबों से बड़ा है। राजमन्त्री होने के कारण सायण का अर्थ-विषय की ओर अभिरुचि होना स्वाभाविक ही है। इस समय सायण तीस या बत्तीस वर्षों के होंगे, ऐसा अनुमानतः सिद्ध है।

इस ग्रन्थ की महत्ता के विषय में दो विशेष बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह है कि यह ग्रन्थ शारंगधर पद्धति (रचना-काल १३६३ ई०) से पुराना है। अतः इसमें उससे भी प्राचीन कविजनों की चुनी कविताओं का संग्रह है। परन्तु श्लोकों के पीछे उनके कर्ताओं के नाम न देने से इसमें कुछ त्रुटि-सी आ गई है। दूसरे, इसका महत्त्व ऐतिहासिक है। अर्थ-पर्व में एक लम्बा अंश है, जिसका नाम 'राज चाटुपद्धति' है। इसमें तत्कालीन विजयनगर के शासकों के विषय में अनेक पद्य संगृहीत हैं। अतः इनकी सहायता से उन राजाओं के विषय में ऐतिहासिक तथ्य का पता चल सकता है। इस प्रकार ग्रन्थ की उपादेयता सर्वथा माननीय है,

इससे कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

---

१. भरद्वाजान्वयभुजा तेन सायणमन्त्रिणा।
व्यरच्यत विशिष्टार्थः सुभाषितसुधानिधिः ॥

इति पूर्व-पश्चिम-समुद्राधीश्वरारिराय विभाल श्री कम्पराज महाप्रधान भरद्वाजवंश-मौक्तिक-मायणरत्नाकर सुधाकर-माधव कल्पतरु-सहोदर-श्री सायणार्य विरचिते सुभाषितसुधानिधौ।

मेरुः स्थितोऽपि दूरे मनुष्यभूमिं धिया परित्यज्य ।
भीतोऽवश्यं चौर्यात् चोराणां हेमकाराणाम् ॥

× × ×

अनुयातोऽनेकजनैः परपुरुषधृतः सुवर्णशकलयुतः ।
अधिकारस्थः शव इव न वदति न शृणोति नेक्षते किञ्चित् ॥

× × ×

त्यागं भोगं विना च सत्तामात्रेण यदि धनिनः ।
वयमपि किमपि न धनिनस्तिष्ठति नः काञ्चनो मेरुः ॥

(२) प्रायश्चित्त-सुधानिधि

यह सायण की दूसरी रचना प्रतीत होती है । इसका दूसरा नाम 'कर्मविपाक' भी है । हिन्दू धर्मशास्त्रों के प्रधान तीन विषय हुआ करते हैं : आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त । इसमें प्रायश्चित्त का विषय भी बड़े महत्त्व का माना जाता है । इसी उपयोगी विषय का विवेचन इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है । इस ग्रन्थ की रचना कर सायण ने धर्मशास्त्र में अपनी प्रवीणता ही नहीं दिखलाई है, प्रत्युत धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों का भी विशेष उपकार किया है । संगम भूपाल के मन्त्रीकाल में सायण ने जिन चार ग्रन्थों को बनाया, उनमें यह ग्रन्थ प्रथम प्रतीत हो रहा है । उस समय सायण की उम्र लगभग चालीस वर्ष की थी ।

(३) आयुर्वेद-सुधानिधि

इस ग्रन्थ में सायण ने आयुर्वेद के रहस्यों का प्रकटीकरण किया है । इससे प्रतीत होता है कि सायण का ध्यान धर्मशास्त्र के साथ-साथ आयुर्वेद जैसे सर्वोपकारक व्यावहारिक शास्त्र की ओर भी गया था । सायण की सर्वांगीण विद्वता तथा अनुपम लोकोपकार बुद्धि का यह श्रेष्ठ उदाहरण है । इसका उल्लेख सायण ने अपने अलङ्कार-सुधानिधि में किया है[1], जिससे इसका रचनाकाल इसके पहले अनुमान सिद्ध है ।

'श्रीशैलनाथ' नामक पण्डित ने अपने 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' नामक वैद्यक ग्रन्थ में लिखा है कि उनके पितामह 'एकाम्रनाथ' ने सायण मन्त्री की प्रेरणा से 'आयुर्वेद-सुधानिधि' का संग्रह किया—

---

१. आयुर्वेद-सुधानिधि-व्यसनिभिः श्रीसायणार्योदितं भेषज्यम् : इण्डियन एण्टिक्वेरी (१९१६) के पृष्ठ २२ पर उद्धृत ।

एकाम्रनाथो यत्तातः सायणामात्यचोदितः ।
समग्रहीत् सुबोधार्थमायुर्वेदसुधानिधिम् ॥

(४) अलङ्कार-सुधानिधि

सायण ने इस ग्रन्थ में संस्कृत के समस्त अलङ्कारों का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की रचना से सायण अलङ्कारशास्त्र के भी पण्डित प्रतीत होते हैं। इसका प्रचुर प्रचार दक्षिण भारत में अवश्य था; क्योंकि दक्षिण के सुप्रसिद्ध विद्वान् अप्पय दीक्षित ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ (चित्रमीमांसा) में इसका निर्देश किया है। यह अपने ढंग का एक अनूठा ग्रन्थ प्रतीत होता है। यदि एक ही ग्रन्थकार ने किसी अलङ्कार ग्रन्थ की कारिका तथा उदाहरण को स्वयं लिखा है, तो ऐसा प्रायः हुआ करता है कि वह अलङ्कारों के उदाहरण अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में बनाता है। दृष्टान्त के लिए कतिपय आलङ्कारिकों का यहाँ उल्लेख किया जायगा। विद्याधर ने अपनी 'एकावली' के उदाहरणों में अपने आश्रयदाता, उड़ीसा के राजा नरसिंह की प्रशस्त स्तुति की है। विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' में वारंगल के काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव के प्रशंसात्मक श्लोकों को सर्वत्र उदाहरण के रूप में दिया है। रूपक के लक्षणों के उदाहरण देने के लिए विद्यानाथ ने प्रतापरुद्र के विषय में एक नवीन रूपक को ही रचना कर इसमें सम्मिलित कर दिया है। इसी प्रकार 'अभिनव कालिदास' उपाधिधारी नृसिंह कवि ने अपने 'नञ्जराजयशोभूषण' में महीशूर के वीरभूपाल के पुत्र, अपने आश्रयदाता नञ्जराज की स्तुति में ही उदाहरण दिए हैं। आलङ्कारिकों की प्रायः यही क्षुण्ण पद्धति है, परन्तु सायण ने इस ग्रन्थ में एक विचित्र मार्ग की उद्‌भावना की है। इसमें जितने उदाहरण दिये गए हैं, उनमें से अधिकांश ग्रन्थकार के जीवन-चरित से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसकी यह विशेषता इसे इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों से सर्वथा पृथक् करती है। ये उदाहरण सायण के जीवन-वृत्त के समझने में बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनकी सहायता से हम केवल सायण के ही जीवन की विशिष्ट घटनाओं से भली-भाँति परिचित नहीं हो जाते, प्रत्युत उनके कुटुम्ब के आश्रयदाता आदि के विषय में भी अनेक ज्ञातव्य विषयों से अभिज्ञ बन जाते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख सायणीय वृत्त लिखने में किया गया है। दुःख की बात इतनी है कि यह ग्रन्थ-रत्न अधूरा ही है[1], यदि यह कहीं पूरा मिलता तो सायणीय वृत्त की पर्याप्त

---

१. इस ग्रन्थ के पता लगाने वाले महामहोपाध्याय आर० नरसिंहाचार्य महोदय ने लेखक को अपने पत्र में सूचित किया है कि विशेष खोज करने पर भी यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिल सका। यह अधूरी प्रति इस समय मैसूर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

अभिज्ञता हमें प्राप्त होती । अस्तु; इस ग्रन्थ का जितना भी अंश इस समय उपलब्ध हुआ है, वह भी अत्यन्त महत्त्व का है। इस ग्रन्थ का उपयोग इस पुस्तक में आवश्यकतानुसार प्रचुर मात्रा में किया गया है।

(५) धातुवृत्ति

वैयाकरणों में यह वृत्ति माधवीया धातुवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु रचना इसकी सायण ने ही की। उन्होंने प्रत्येक गण की पुष्पिका में अपने नाम का स्पष्टतः उल्लेख किया है[1] तथा ग्रंथारम्भ में भी सायण विरचित होने पर भी 'माधवीया' नाम से व्यवहृत किया है।[2] अतः इनके कर्तृत्व की छाप इस पर सप्रमाण सिद्ध होती है।

यह ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ की विस्तृत तथा अतीव प्रामाणिक टीका है। इसमें ग्रन्थकार ने हेलाराज, भट्ट भास्कर, क्षीरस्वामी, शाकटायन, पतञ्जलि; भागुरि, कैयट, हरदत्त, जयादित्य आदि-आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों के मतों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। इसमें धातु की व्याख्या में केवल तिङन्त रूप ही प्रदर्शित नहीं किए गए हैं, प्रत्युत उसके निष्पन्न कृदन्त रूपों के भी सप्रमाण उल्लेख हैं। उसमें किसी प्रकार की व्याकरण सम्बन्धी विशेषता होने पर उसका भी वर्णन प्रमाण के साथ किया गया है। उदाहरणार्थ, 'वर्षाभू' शब्द को लीजिए। साधारणतः यह शब्द पुनर्नवा ओषधि के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु सायण ने क्षीरस्वामी, सुभूतिचन्द्र तथा भागुरि के प्रमाण वाक्यों का उल्लेख कर बतलाया है कि ह्रस्व उकारान्त 'वर्षाभु' का प्रयोग मेढक के लिए होता है और इसलिए उसकी स्त्री को 'वर्षाभ्वी' कहते है। इतना ही नहीं, वैजयन्ती कोष के कर्ता यादव प्रकाश ने तो ऊकारान्त वर्षाभू शब्द को ही मेढक के अर्थ में बतलाया है। परमत के उल्लेख के बाद सायण ने अपने भी मत को बतलाया है। इस प्रकार यह ग्रन्थरत्न वास्तव में शब्दशास्त्र के लिए ज्ञान का भाण्डागार है। इसकी प्रसिद्धि भी तदनुकूल ही है। पीछे के वैयाकरणों ने बड़े आदर के साथ इसके मतों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।

इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। बहुत पहले 'पण्डितपत्र' में इसका प्रकाशन हुआ था। पीछे महीशूर की संस्कृत ग्रन्थमाला में कई जिल्दों में एक बढ़िया संस्करण

---

१. इति पूर्व दक्षिण पश्चिम समुद्राधीश्वर कम्पराजसुत-संगमराज महामन्त्रिणा मायणपुत्रेण माधवसोदरेण सायणेन विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ शब्बिकरणाम्वादयः।

२. तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा ।
आख्यया माधवीयेयं धातु-वृत्तिर्विरच्यते ।। १३ ।।

निकाला था; परन्तु दुर्भाग्य से यह उपलब्ध नहीं है। आजकल काशी संस्कृत सीरीज में १०३ वें ग्रन्थ के रूप मे यह वृत्ति प्रकाशित हुई है।

इन चारों ग्रन्थो की रचना के समय सायणाचार्य संगम (द्वितीय) भूपाल के प्रधान मन्त्री थे।[1] इनकी रचना के समय उनकी अवस्था चालीस वर्ष से लेकर पैंतालीस साल की सम्भवतः होगी। अतः इन चारों के निर्माण का काल वि० सं० १४१२ से लेकर वि० सं० १४२० है। सायण के जीवन का यह समय युद्धों में विजय-वैजयन्ती फहराने का समय था; इस समय में वह केवल संगम के राज्य-प्रबन्ध में ही व्यस्त न थे, बल्कि अनेक संग्रामों में शत्रुओं को परास्त करने में भी संलग्न थे। यह बड़े आश्चर्य का विषय जान पड़ता है कि ऐसे समय में भी, जब इन्हें शायद ही अवकाश मिलता हो, सायण ने किस प्रकार एक नहीं, चार उपयोगी तथा स्थूलकाय पुस्तकों की रचना कर डाली। यह घटना इनके विशेष उत्साह, अटूट परिश्रम तथा अलोकसामान्य मनःशान्ति की पर्याप्त परिचायिका है। साधारण व्यक्ति के लिए इतना कार्य करना नितान्त असम्भव होता, परन्तु सायण जैसे महान् व्यक्ति के लिए विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहने पर भी ग्रन्थों की रचना का श्लाघनीय कार्य उनके अलौकिक गुणों को प्रकट कर रहा है।

(६) पुरुषार्थ-सुधानिधि

पुरुषार्थ-सुधानिधि में लिखा है[2] कि तत्त्ववेत्ता तथा सत्कथा-कौतुकी बुक्कभूपति

---

१. (क) तस्य (संगमस्य) मन्त्रि शिरोरत्नमस्ति मायणसायणः।

× × ×

तेन मायण—पुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
ग्रन्थः कर्मविपाकाख्यः क्रियते करुणावता॥

(ख) इति × × × श्री संगमराज सकलराज्य धुरन्धरस्य............ श्रीमत्सायणाचार्यस्य कृतावलङ्कारसुधानिधौ......॥

(ग) अस्ति श्री संगक्ष्मापः पृथ्वीतलपुरन्दरः।
तस्य मन्त्रिशिरोरत्नमस्ति मायणसायणः॥
तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते॥

२. तं सर्वविद्यानिलयं तत्त्वविद् बुक्कभूपतिः।
सत्कथाकौतुकी हर्षादपृच्छत् राजशेखरम्॥
श्रुतानि त्वन्मुखादेव शास्त्राणि विविधानि च।
पुराणोपपुराणानि भारतं च महामते॥
सर्वाण्येतानि विप्रेन्द्रः! गहनान्यल्पमेधसाम्।

ने सब विद्याओं के निकेतन श्री माधवाचार्य से प्रसन्न होकर पूछा कि हे महामते ! आपके श्रीमुख से मैंने विविध शास्त्रों, पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत को सुना है; परन्तु हे विप्रेन्द्र ! अल्पबुद्धि वाले पुरुषों के लिए ये गहन हैं। अतः आख्यान-रूप से पुरुषार्थोपयोगी व्यासवाक्यों को मुझे सुनाइए। बुक्क के इस सुन्दर विचार से माधव नितान्त प्रसन्न हुए और राजा की प्रशंसा कर बोले कि यह मेरा सायणाचार्य नामक अनुज विद्वानों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। मेरे उपदेश से सब कथाओं को आपको सुना देगा। इस प्रकार राजा को प्रसन्न कर के माधव ने सायण की ओर अपनी दृष्टि फेरी। तब सायण ने राजा से कहा कि हे महाप्राज्ञ ! आपका प्रस्ताव खूब सुन्दर है। आपकी बुद्धि धर्मोन्मुखी है। मैं लोक के हित की कामना से व्यासवाक्यों को कहता हूँ। सायण के इन व्यासवाक्यों का ही यह संग्रह 'पुरुषार्थ-सुधानिधि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ऊपर के उद्धरण से ग्रन्थ के निर्माण होने का कारण जाना जाता है। यह ग्रन्थ विजयनगराधीश्वर श्री बुक्कराय की आज्ञा से लिखा गया था। महाभारत तथा पुराणों में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विषय में बहुत विवेचन है। इन वचनों को एक ग्रन्थ में एकत्रित करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इसके पहले ही सायण ने 'सुभाषित-सुधानिधि' में एतद्विषयक पद्यों का संग्रह किया था, परन्तु वह संग्रह संस्कृत के प्राचीन तथा समसामयिक कवियों की कृतियों से था। यह संग्रह व्यास-रचित ही वचनों के संकलन होने से उससे सर्वथा भिन्न है।

(७) यज्ञतन्त्र-सुधानिधि

इसकी पुष्पिका[1] में सायण ने अपने को हरिहर महाराज का सकल साम्राज्य-

---

तस्मादाख्यानरूपाणि सुखोपायानि सुव्रत।
पुरुषार्थोपयोगीनि व्यासवाक्यानि मे वद॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा युक्तार्थं बुक्कभूपतेः।
प्रशस्य तं मुदा युक्तो माधवः प्रत्यभाषत॥
"अयं हि कृतिनामाद्यः सायणार्यो ममानुजः।
पुराणोपपुराणेषु पुरुषार्थोपयोगिनीः।
उपदिष्टा मया राजन् ! कथास्ते कथयिष्यति"॥
इति प्रसाद्य राजानं सायणार्यमुदैक्षत।
सायणार्योऽग्रजेनोक्तः प्राह बुक्कमहीपतिम्॥
"साधु साधु महाप्राज्ञ ! बुद्धिस्ते धर्मदेशिनी।
वदामि व्यासवाक्यानि लोकानां हितकाम्यया"॥

१. इति श्रीमद्राजाधिराज परमेश्वर हरिहरमहाराज-सकलसाम्राज्य-धुरन्धरस्य वैदिकमार्गस्थापनाचार्यस्य सायणाचार्यस्य कृतौ यज्ञतन्त्रसुधानिधौ......।

धुरन्धर लिखा है। अतः हरिहर के समय में इसके विरचित होने की बात स्पष्ट ही है। अथर्वभाष्य तथा शतपथ-भाष्य भी इस राजा के समय में बने। अतः इन भाष्यग्रन्थों के साथ यह ग्रन्थ सायण की अन्तिम रचना प्रतीत होता है। यज्ञों के अनुष्ठान के विषय में ग्रन्थ का होना नाम से जान पड़ता है। अभी तक छपा नहीं।

(४)

सायण के वेदभाष्य

महत्त्व

सायण के इतर ग्रन्थों के विवरण के अनन्तर उनके वेदभाष्यों का प्रकृत विवेचन यहाँ अब प्रस्तुत किया जायगा। सायण के अन्य ग्रन्थों को उतना महत्त्व प्राप्त नहीं है, जितना इन वेदभाष्यों को। सर्व साधारण तो इनकी अन्य रचनाओं के अस्तित्व से भी सर्वथा अपरिचित है। वह तो सायण को इन्हीं वेदभाष्यों के रचयिता के रूप में जानता है तथा आदर करता है। वे वेदभाष्य ही सायणाचार्य की कमनीय कीर्तिलता को सर्वदा आश्रय देनेवाले विशाल कल्पवृक्ष हैं, जिनकी शीतल छाया में आदरणीय आश्रय पाकर सायण की कीर्ति-गरिमा सदैव वृद्धि तथा समृद्धि प्राप्त करती जायगी। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की अलौकिक विद्वत्ता, व्यापक पाण्डित्य तथा विस्मयनीय अध्यवसाय को अभिव्यक्त करने के लिए आज भी नितान्त समर्थ हैं तथा भविष्य में भी बनाए रखेंगे। इन्हीं विशाल कीर्ति-स्तम्भों की रचना की प्रकृत कथा प्रेमी पाठकों को सुनाई जावेगी।

रचना का उपक्रम

महाराज बुक्कराय के संस्कृत साहित्य, आर्यधर्म तथा हिन्दू सभ्यता के प्रति विमल तथा प्रगाढ़ अनुराग से हम सर्वथा परिचित हैं। इसका प्रकटीकरण पीछे के पृष्ठों में प्रमाणपुरःसर किया जा चुका है। महाराज ने अपने उच्च विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह आवश्यक समझा कि हिन्दू धर्म के आदिम तथा प्राणभूत ग्रन्थरत्न वेदों के अर्थ की सुन्दर तथा प्रामाणिक ढंग से व्याख्या की जाय। इसके लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु तथा राजनीतिज्ञ अमात्य माधव को आदेश दिया कि वेदों के अर्थ का प्रकाशन किया जाय। माधवाचार्य वेदार्थ के मर्मज्ञ मीमांसक थे। 'जैमिनीय न्यायमाला' की रचना कर उन्होंने अपने मीमांसा-ज्ञान का प्रकृष्ट परिचय दिया था। अतः ऐसे सुयोग्य विद्वान् से वेदार्थ की व्याख्या के लिए प्रार्थना करना नितान्त उपयुक्त था। परन्तु जान पड़ता है कि अनेक अन्य आवश्यक कार्यों में व्यग्र रहने के कारण माधव अपने शिष्य तथा

आश्रयदाता के इस आदरणीय आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। इस कारण से अथवा अन्य किसी अभिप्राय से माधव ने अपने ऊपर इस गुरुतर कार्य के निबाहने का भार नहीं रखा। फलतः उन्होंने राजा से कहा : यह मेरा छोटा भाई सायणाचार्य वेदों की सब बातों को जानता है; गूढ़ से ही गूढ़ अभिप्राय तथा रहस्य से परिचित है। अतः इन्हीं को इस व्याख्या कार्य के लिए नियुक्त कीजिए। माधवाचार्य के इस उत्तर को सुनकर वीर बुक्क महीपति ने सायणाचार्य को वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आज्ञा दी। तब कृपालु सायणाचार्य ने वेदार्थों की व्याख्या की।

यह विवरण तैत्तिरीय संहिताभाष्य के आरम्भ में दिया गया है।[1] इससे पाठकों को विदित हो जायगा कि वेदभाष्यों की रचना का उपक्रम क्योंकर हुआ। सायणाचार्य के जीवन का अब तक का समय कम्पण तथा संगम के मन्त्रीकार्य के सम्पादन में व्यय हुआ था। वे नल्लूर के आसपास शासन तथा प्रबन्ध करने में अब तक लगे थे। वे विजयनगर के शासक हरिहर तथा बुक्क के साथ घनिष्ठ परिचय तथा गाढ़ अनुराग प्राप्त करने में अभी तक सौभाग्यशाली न थे। सच तो यह है कि विजयनगर से बाहर अन्य भूपालों के संग राज्य-प्रबन्ध में संलग्न रहने के कारण सायण बुक्क के दरबार से दूर ही रहते थे। अतः यदि महराज बुक्क सायण की योग्यता तथा विद्वत्ता से सर्वथा अपरिचित हों, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं मालूम पड़ती। माधव की विशेष योग्यता को वह भली-भाँति जानते थे; क्योंकि माधव का समग्र जीवन विजयनगर के शासकों के संग में ही बीता था। अतः उन्हें वेदार्थ के प्रकाशक के लिए आदेश देना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु माधव ने अपने-आपको इस उत्तरदायी कार्य के सँभालने में न लगाकर अपने अनुज को इसके लिए चुना। उन्हें अपने भाई की विपुल विद्वत्ता तथा वेद की मर्मज्ञता में बड़ा विश्वास था। अतः इस कार्य को उन्हें ही सौंपा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि बुक्क की

---

१. तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
स प्राह नृपतिं "राजन्! सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्" ॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥
—तैत्तिरीय संहिताभाष्योपक्रमणिका

ही आज्ञा से वेदभाष्यों की रचना का सूत्र-पात हुआ, तथापि माधवाचार्य का हाथ इसमें विशेष दीखता है। अतः जिस प्रकार हम इस ग्रन्थ-रत्नों के लिए सायणाचार्य के ऋणी हैं, उसी प्रकार हम माधवाचार्य के भी हैं। माधव के लिए हमें और भी आदर है। आपकी यदि प्रेरणा कहीं न हुई होती, तो इन वेदभाष्यों की रचना ही सम्पन्न नहीं होती। अतः वेदाभिमानियों को महाराज बुक्क, माधवाचार्य तथा सायणाचार्य—इन तीनों के प्रति इन गौरवमय ग्रन्थों के निर्माण के लिए अपनी प्रगाढ़ कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

संख्या

अब तक 'वेदभाष्य' शब्द का प्रयोग ऊपर इस ढंग से किया गया है, जिससे इसके द्वारा किसी एक ही ग्रन्थ को लक्षित करने का भाव प्रकट होता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'वेद' शब्द संहिता तथा ब्राह्मण के समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतः वेदभाष्य के द्वारा संहिता तथा ब्राह्मण की व्याख्या लक्षित होती है।

जिन संहिताओं तथा ब्राह्मणों के ऊपर सायण ने अपने भाष्य लिखे, उनके नामों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। जहाँ तक पता चलता है, सायण ने ज्ञान-काण्ड की व्याख्या में किसी ग्रन्थ को नहीं लिखा।

सायण ने इन सुप्रसिद्ध वैदिक संहिताओं के ऊपर अपने भाष्य लिखे—

(१) तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद की)
(२) ऋग्वेद संहिता
(३) सामवेद संहिता
(४) काण्व संहिता (शुक्ल यजुर्वेदीय)
(५) अथर्ववेद संहिता

सायण के द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरण्यक—

(क) कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण—

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण
(२) तैत्तिरीय आरण्यक

(ख) ऋग्वेद के ब्राह्मण—

(३) ऐतरेय ब्राह्मण
(४) ऐतरेय आरण्यक

(ग) सामवेद के ब्राह्मण—

(५) ताण्ड्य (पञ्चविंश) महाब्राह्मण
(६) षड्विंश ब्राह्मण
(७) सामविधान ब्राह्मण
(८) देवताध्याय ब्राह्मण
(९) आर्षेय ब्राह्मण
(१०) उपनिषद् ब्राह्मण
(११) संहितोपनिषद् ब्राह्मण
(१२) वंश ब्राह्मण

(घ) शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण—

(१३) शतपथ ब्राह्मण

इस प्रकार सायणाचार्य ने ५ संहिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण-आरण्यकों की व्याख्या लिखी। सायणकृत वेदभाष्यों के नामोल्लेख से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उन्होंने चारों वेदों की संहिताओं के ऊपर अपने प्रामाणिक भाष्य लिखे तथा चारों वेदों के ब्राह्मण भाग की भी व्याख्या लिखी। शुक्ल यजुर्वेद तथा सामवेद के समग्र ब्राह्मणों पर सायण ने भाष्य लिखे। शुक्ल यजुर्वेद का एक ही ब्राह्मण मिलता है; वह है शतपथ ब्राह्मण। यह विपुल-काय ग्रन्थ सौ बड़े-बड़े अध्यायों में विभक्त है। सायण ने इस ग्रन्थरत्न की सुन्दर व्याख्या लिखी। सामवेद के आठ ब्राह्मण मिलते हैं। इन आठों ब्राह्मणों पर सायण ने व्याख्यान लिखा है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण तथा दो आरण्यक हैं: ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक; कौषीतकि ब्राह्मण तथा कौषीतकि आरण्यक। इनमें सायण ने पहले दोनों पर ही व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद की एक ही शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण तथा आरण्यक की व्याख्या सायण ने बनाई। कृष्ण यजुर्वेद की अनेक शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु सायण ने इन सबों को छोड़कर अपनी शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य लिखें। इस प्रकार सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य के एक विशाल भाग के ऊपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखे। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण हुआ है कि उनकी समता न तो किसी प्राचीन आचार्य से ही की जा सकती है और न किसी परवर्ती भाष्यकार से ही; क्योंकि किसी ने भी इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य नहीं बनाए। सायणाचार्य के भाष्यों का महत्त्व आगे वर्णित है।

(५)

सायण का महत्त्व

सायणाचार्य ने ऊपर उल्लिखित इन सब साधनों की सहायता अपने वेदभाष्यों में ली है। उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है, वेद के अर्थ के लिए षडंगों की भी आवश्यकता होती है। सायण इनसे सविशेष परिचित थे। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के व्याकरण की अच्छी छानबीन की है। प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं-कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से इतने सुव्यवस्थित ढंग से किया गया है कि इसे ध्यान से पढ़ जाने पर समस्त ज्ञातव्य व्याकरण सम्बन्धी विषयों की जानकारी सहज में हो जाती है। निरुक्त का भी उपयोग खूब ही किया गया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने तत्तत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय अविकल रूप से लिख दिया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्दस्वामी और माधव जैसे भाष्यकारों के अर्थ को भी यथावकाश ग्रहण किया है। कल्पसूत्रों का उपयोग विस्तार के साथ किया गया है। सायण यज्ञ-विधान से नितान्त परिचय रखते थे। अतः कल्पसूत्र-विषयक आवश्यक तथ्यों का वर्णन बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने सर्वत्र किया है। सूक्त-व्याख्या के आरम्भ में ही उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता आदि ज्ञातव्य बातों का वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ-साथ सर्वत्र किया है। सूक्तविषयक उपलभ्यमान आख्यायिका को भी सप्रमाण दे दिया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश भाष्य के आरम्भ वाले उपोद्घात में बड़े ही सुन्दर और बोधगम्य भाषा में सायण ने कर दिया है। वेद-विषयक समग्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्घाटन इन उपोद्घातों में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है, जिसके कारण ये भूमिकाएँ वैदिक सिद्धान्तों के भाण्डागार के समान प्रतीत होती हैं। इन्हीं सब कारणों से सायण के वेदभाष्य का गौरव है। सायण ने याज्ञिक पद्धति को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इसके महत्त्व को दृष्टि में रखकर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया। आजकल इसमें कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी, परन्तु मार्ग यही है।

इस महत्त्व के कारण प्रत्येक वेदानुशीली को सायणाचार्य के सामने अपना शिर झुकाना चाहिए। यदि सायण-भाष्य न होते तो वेदार्थ के अनुशीलन की कैसी दयनीय

नीय दशा हो जाती, कहा नहीं जा सकता। ऐतिहासिक पद्धति के मानने वाले यूरोपियन स्कालर लोग भाषाशास्त्र की मनमानी व्युत्पत्ति के आधार पर एक ही शब्द के अनेक विरुद्ध अर्थ करने पर तुले हुए हैं, तब परम्परागत अर्थ को ही अपने भाष्य में स्थान देने वाले सायणाचार्य के अतिरिक्त हम किसे अपना आश्रय मानें ? वास्तव में वैदिक भाषा और धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है—सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य। प्रत्येक वैदिक विद्वान् के ऊपर सायण का ऋण यथेष्ट मात्रा में है। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के समझने का जो विपुल प्रयत्न किया है और किसी अंश में उन्हें जो सफलता मिली है, वह सायण की ही अनुकम्पा का फल है। सायण-भाष्य की सहायता से वे लोग वैदिक मन्त्रों का अर्थ समझने में कृतकार्य हुए हैं। छिट-पुट शब्दों के अर्थों में यत्किञ्चित् विरोधाभास दिखला कर सायण की हँसी उड़ाना दूसरी बात है, परन्तु वास्तव में संहिता-पंचक के ऊपर इतना सुव्यवस्थित, पूर्वापर-विरोध-हीन, उपादेय तथा पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिख डालना टेढ़ी खीर है। इस कार्य के महत्त्व को पण्डित जन ही यथार्थ में समझ सकते हैं। इसके लिए वैदिक धर्म तथा संस्कृत भाषा की जितनी अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए, इसका सर्वसाधारणजन अनुमान भी नहीं लगा सकता। सायण की कृपा से वेद में प्रवेश करने वाले यूरोपीय विद्वान् यदि आधुनिक विद्या के दर्प से उन्मत्त होकर 'सायण का बहिष्कार करो' का झण्डा ऊँचा करें, तो इसे सम्प्रदायविद् सायण के सामने सत्य के प्रति द्रोह भले न समझा जाय, परन्तु वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता तो अवश्य प्रकट होती है। यूरोपीय विद्वान् सम्प्रदाय के महत्त्व से भलीभाँति परिचित न होने से इस विषय में उपेक्षणीय भले मान लिये जायँ, परन्तु अधिक दुःख तो उन भारतीयों के लिए है जो आँख मूँद कर इन पाश्चात्य गुरुओं के चेला होने में ही पाण्डित्य का चरम उत्कर्ष देखते हैं और भारतीय सम्प्रदाय के महत्त्व को जान कर उसकी उपेक्षा करने में जी-जान से तुले हुये हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सायणभाष्य में दोष नहीं है। किसी भी मानवी कृति में हमें दोषहीनता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए, परन्तु पूरे भाष्य के ऊहापोह तथा आलोचना करने पर हमारा यही निश्चित सिद्धान्त है कि सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुञ्जी है—वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए विशाल सिंहद्वार है।

परम हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य अनुसन्धानकर्त्ता भी सायण के परम महत्त्व से अपरिचित नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम अनुवादक प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् विल्सन की यह उक्ति भुलाई नहीं जा सकती[1] कि निश्चय रूप से सायणाचार्य का वेदज्ञान इतना

1. Sayana undoubtedly had a knowledge of his text far beyond

अधिक था जितना कोई भी यूरोपियन विद्वान् रखने का दावा नहीं कर सकता। वे स्वयं अपनी जानकारी से या अपने सहायकों के द्वारा वेद के परम्परागत अर्थों से नितान्त परिचित थे। सायण-भाष्य के प्रथम यूरोपियन सम्पादक डॉक्टर मैक्स-म्यूलर (मोक्षमूलर भट्ट) का यह कथन भी यथार्थ ही है कि यदि सायण के द्वारा की गयी अर्थ की लड़ी हमें नहीं मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे।[1] वास्तव में सायण अन्धे की लकड़ी (Blind man's stick) हैं। सौभाग्य से सायण के प्रति पाश्चात्यों के भाव इधर बदलने लगे हैं, उपेक्षा के स्थान पर आदर ने अपना पैर जमाया है और भाषा-शास्त्र आदि आवश्यक साधनों की गहरी छान-बीन के साथ-साथ सायण के अर्थ की सचाई का पता अब विद्वानों को लगने लगा है। इस विषय में जर्मन विद्वान् पिशल और गोल्डनर ने बड़ा काम किया है। इन लोगों ने 'वेदिशे स्तुदियन' (वैदिक अनुशीलन) के तीनों भागों में अनेक गूढ़ वैदिक शब्दों के अर्थ का अनुसंधान किया है, जिसके फलस्वरूप सायण के अर्थ अधिक प्रामाणिक तथा उपादेय प्रतीत होने लगे हैं।

अन्त में, यज्ञस्वरूपी विष्णु भगवान् से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सर्वथा समर्थ बने और वैदिक तत्त्वों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत कर लेखक तथा सम्पादक के परिश्रम को सफल बनावे। तथास्तु।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥

—श्रीमद्भागवत ८।२४।६१

माघी पूर्णिमा सं० २०४१
५-२-१९८५
वाराणसी

—बलदेव उपाध्याय

---

the pretensions of any. European scholar, and must have been in possession either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretations which have been perpatuated by traditional teaching from the early times. —Translation of Rigveda.

1. We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at least have gained a firm footing without his leading strings.

—Introduction to Rigveda Edn.

INTRODUCTION

It is with very great pleasure that we are presenting herewith the complete text of Sāyaṇāchārya's all available introductions to his commentaries upon the various Samhitās of the Vedas. No apology is indeed needed and hence we are offering none for the publication of such a work. It is no wonder that so far only his introduction to the Ṛg Veda-Bhāṣya has been known to the scholar and published at many places. It is only the Ṛg Veda-Samhitā which has attracted the greatest number of scholars who have tried to illuminate many dark corners by focussing all the force of their erudition and application. The other Samhitās have not been able to command an equal amount of interest. The reason is not only this that the Ṛg Vedic texts are the oldest and are directly or indirectly sources of all others, but have also the ground for their cold neglect the difficulties in understanding and appreciating the subtleties of their import and the intricacies of their interpretation due mainly to the lack of specialised knowledge so much needed for assimilating the wealth of traditional scholiastic lore gathering around them.

We cannot but be sincerely grateful to those magnanimous and self-less souls who have devoted their precious

time and energy to the study of the Vedas. But at the same time we feel and realise—and that is no ingratitude towards them—that after all the scholarly and ingenious attempts to bring out the real import and signification of the Vedic texts, there is some thing left out, last sight of or dismissed supreme indifference. But that 'some thing' is and must be vital to all true Hindu hearts. The fundamental point of difference between the attitude of western scholar rared and fostered from his very cradle with the glories of Greece and Rome and a true Hindu imbibing from the first day of his existence the undying traditions of the Sapta-sindhu and the Aryāvarta is, undoubtedly, in spite of all attempts to shake off the feelings of prejudice and predilection, the frame of mind, the structure of heart and the constitution of the soul. What wonder can their be if a pandit of the old orthodox school happenes to be terribly shocked when he finds the dearly loved child of Veda treated in a step-motherly manner and where a little coaxing would have put it in genuine spirits, there the surgeon's knife is freely used. The real crux of such a seemingly insuperable indifference of method is this that the westerner looks upon the Veda as something shorn of all associations and environments which have, in course of ages, gathered round it and are to a Hindu mind organically inseparable. To him the veda, bereft of all traditional associations, is something inconceivable. Fresh fantoms of farfetehed associations raised up with the want of powerful scholarship with the help of sounds of chance similarity happen to him mere creatures of fanciful imagination. He deems it a low grade of hopeless degeneration to exchange his living traditions for the ghost of self sufficient scholarship which are still matters of doubtful existence.

But unfortunately the depositiories of ancient Vedic lore have been long getting smaller and smaller in

number. The advent of modern method of education, though quite opportune and useful in certain respects, has brought in its trail a feeling of disdain in the hearts of the generation for every thing old add indigenous. To add to the unenviable sad plight of the vedic studies very particularly, a new method, appearing an attractive and novel modus operundi and being advocated in learned circles as a true outcome of critical faculty, soon came into vogue. The method, in itself, is quite harmless and in fact, it has been particularly in its truly philological and mythological aspects quite successfully applied and appreciated even by the ancients. But to the dire detriment of efficient education and superior scholarship, it has been fondly handed either by those who were innocently ignorant of the basic realities and fundamental actualities or by those whose visions have been hopelessly perverted and distorted by unsuitable and uncongenial education. Sincere scholarship, in its introspective investigation or for forming final judgment about anything, should not and indeed cannot throw away all things, simply because they are old and run after merely because they are new. It is no ingenious index of superior wisdom to dub 'wrong' 'misleading' 'nonsense' etc. and reject all older views solely for the reason that they do not closely fit in with our own conveniently formed opinions. In the case of Indians such an untenable attitude is doubly deplorable. No nation on the surface of the earth has ever become great by despising its own ancient glories and by eking out its miserable existence with a few crumps falling from the mouths of others.

One of the most important depositories of the vedic lore, whose works have come down to us, was undoubtedly Sāyaṇāchārya. This great man of affairs was at the same time a great man of letters—a very rare combination even among the ancients. He did officially what he could do for

the revival of the Vedic Learning and Culture. Even personally he did not spare himself. With the help of brilliant galaxy of erudite giants, he collected all the available auxiliary and ancillary informations so imperatively necesaary for the elucidation of the Vedic texts and with his profound scholarly insight and rare acute critical faculty assimilated them and put them in the form of his Vedic commentaries. He thought—and he was quite right in thinking so—that without proper guidance in the form of preliminary discourses imparting all essential matters which a student of Veda, before he begins his studies, must know, it was a hope, less affair to dabble with Vedic interpretations with the help of one's own unbridled imagination. It was with this purpose in view that he annexed his useful introductions to the commentaries of the various Samhitās. Besides his Introduction to the Ṛg Veda-Bhāṣya, all the others have not so far been properly studied and conveniently published. In the course of our studies we came to realise that they were in no way less useful. They are perhaps, especially as the other Samhitās are so little known, much more important and of much greater interest. But before we say anything more about these introductions, we beg to present to the reader a brief account of their illustrious author.

THE AUTHOR

Sāyaṇāchārya occupies a unique place in the History of the Sanskrit Literature. The learned commentaries written by him on the Vedic Samhitas and Brāhmaṇas are the most important works of their kind, which are of immense value to us for the proper exposition of the subtle truths wich these works of hoary antiquity contain. There has been a host of commentators of the vedas even before the advent of Sāyaṇa but unknown as many of their works are,

most of them are mere names to us. Indeed the only commentator who has had the rare good fortune of commenting upon all the four vedas and whose comments are still extant is the great Sāyanāchārya himself. He was, along with his equally famous elder brother Mādhavāchārya, responsible, as is rightly asserted by historians, for the great Renaissance of the Vedic Learning under the benign rule of the early Vijayanagara monarchs. Fortunately we possess abundant materials for framing a genuine life-history of this great vedic commentator. We give below a bare outline of the varied life and diverse activities of this eminent sanskrit author.

HIS FAMILY

Sāyaṇa was born in a learned South Indian Brāhmaṇa famiiy. His father was Māyaṇa and his mother Śrimatī. He was a Brāhmaṇa of the Bhāradvāja-gotra, Bodhāyaṇa Sutra and Kṛṣṇa Yajurveda. He belonged to the Taittiriya Sākhā of the Black Yajurveda, as is also evident from the fact that the very first vedic commentary he wrote was the Taittirīya Samhitā of the Kṛṣṇa Yajurveda. He had two brothers Mādhavāchārya and Bhoganātha, of whom the first was the eldest and thr second was the youngest of the three.

The elder brother Mādhavāchārya occupies a very important place in the history af Dharma Śāstra and Mīmānsā literatures. Besides being well versed in various branches of learning he was a great minister of the first Vijayanagara kings, Harihara and Bukka, who with his sagacious counsel and judicious guidance founded that ideal Hindu Rājya, that never-to be-forgotten empire of Vijayanagara. He is

also credited, on the authority of eminent historians,[1] with the foundation of the city of Vijayanagara which was considered in the 16th Cen. by foreign travellers to be the greatest and most charming city in the whole continent of Asia in point of grandeur of magnificent artifices and richness of artistic details. Mādhava is alleged to have composed a a number of learned works, most of which are spurious and of late date. His genuine works, however, are—(1) the voluminous commentary upon Parāśarasmṛti, पराशरस्मृति–व्याख्या, popularly known as पराशर-माधव, (2) कालनिर्णय or कालमाधव, (3) जैमिनि-न्यायमाला, an authoritative work on Jaimini System of Purva Mīmānsā, (4) जीवन्मुक्तिविवेक on the Vedantic topic of Jivanmukti, (5) पञ्चदशी, a very popular vedantic work and (6) वैयासिकन्यायमाला on the Vedant Sutras; the last two were composed in collaboration with his spiritual Gurn Bhāratitīrtha when Mādhava exchanged the robe the minister for the काषाय of the Saṃnyāsin under the name Vidyāraṇya.

The most important problem connected with the personality and identification of Mādhava and Vidyāraṇya remains still unsolved. Some scholars[2] entertain very serious doubts as regards the identification of these two authors, but in spite of their arguments to the contrary, not only the later but even contemporary writers[3] bear testimony to the fact that Vidyāraṇya was, in fact, identical with the minister of early Vijayanagara Kings, Mādhavāchārya. It has been

1. Vide S. Krishnaswami Ayangar, Some Contributions of South India to Indian Culture, p. 309 and Krishna Swami Arch. Survey of India Report 1907-8 p. 239, but this theory is objected to by prof. H. Heras, The Beginnings of Vijayanagaro History pp. 14-18.
2. Indian Historical Quarterly, Vol, VI, pp. 701-717.
3. Indian Autiquary, 1916, pp. 17-18,
I. H. Q. Vol, VII pp. 611-14.

rightly pointed out, on inscriptional evidences[1], that Mādhavāchārya, the elder brother of Sāyaṇa, is different from Mādhava, another minister of Bukka I (hence known as Mādhava Mantrin or Amātya Mādhava) who was not only a profound Upaniṣadic scholar (called in the inscriptions उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्य) but was, as a warrior of no mean order, the expeller of Mohammedans from Konkaṇa and the governor of Goa and Banavase provinces. Kāne is amply justified in his appreciative remarks on our author when he says[2] that 'as an erudite scholar, as a far-sighted statesman, as the bulwark of the Vijayanagara Kingdom in the first days of its foundation, as a Sanyāsin given to peaceful contemplation and renunciation in old age, he led such a varied and useful life that even to this day this is a name to conjure with'

Bhoganātha, though not so well-known, was yet a worthy younger brother of Sāyaṇa and Mādhava. He was the *narma-sachiva* of Saṁgama II, the son of Kampaṇa, as is evident from the Biṭraguṇṭa grant of that ruler[3]. Unlike his elder brothers who were profound scholars of Veda, Vedatna, Mīmāmsā and Dharma śāstra, Bhoganātha was a poet of a very high order. The Biṭraguṇṭa grant, with his numerous other poetical compositions mentioned in the Alṁkāra-sudhānidhi of Sāyaṇa. bears eloquent testimony to the great poetical talents of Bhoganātha. Sāyaṇa names and quotes from six of his works. Their names are—(i) रामोल्लास, a kāvya based on the Rāmāyaṇa, (ii) त्रिपुरविजय, on the victory gained by Siva over the Tripura demon,(iii) उदाहरणमाला; examples of Sanskrit figures of speech with varses in praise of Sāyaṇa, (iv) महागणपतिस्तव, a *śtotra of mahagana-*

1. Ind. Ant. 1916, pp. 4–6.
2. Kane : History of Dharma Sastra, p. 374.
3. इति भोगनाथसुधिया सङ्गमभूपालनर्मसचिवेन ।
श्रीकण्ठपुरसमृद्ध्यै शासनपत्रेषु विलिखिताः श्लोकाः ॥ २५ ॥
Epi. Ind., Vol. III, p. 23.

pati, (v) शृङ्गारमंजरी, containing verses descriptive of *Śṛṁgārarasa*, and lastly (vi) गौरीनाथाष्टक, eight verses in praise of Gaurinātha. Sāyaṇa had avery high opinion about the poetic excellence of his brother's kāvyas as he mentions in one place in his Alaṁkāra work that the examples of the rules have to be sought for in the works of Bhoganātha[1]. That Bhoganātha wielded a facile poetic pen will be evident to the students of Sanskrit poetry from the following beautiful verses in praise of his patron Saṁgama II :—

यस्य दृष्टिमुद्दयद्दयारसामर्थिनामभिमतानुबन्धिनीम् ।
हन्त नूनमनुयान्ति सस्पृहं कर्णकल्पतरुकामधेनवः ॥ ८ ॥

× × ×

यद्यशःप्रसरणेन भूयसा ह्लादमेयुषि परं जगत्त्रये ।
अश्नुते विफलतां न चन्द्रमाः केवलं कुमुदिनीविकाशनात् ॥ १० ॥

PERSONAL HISTORY

Sāyaāa was, as is amply proved by literary and inscriptional evidences, connected with four rulers of the Vijayanagara kingdom, Kampaṇa, Saṁgama II, Bukka I and Harihara II. Under each of them he occupied the important post of a responsible state minister. Of these, Kampaṇa, the first patron of Sāyaṇa, was the second son of Saṁgama I and was thus the younger brother of Harihara, the founder of the Vijayanagara kingdom. He ruled over the country in the east of the Vijayanagara empire, possibly in the Nellore and Cuddapah districts.[2] Saṃgama II, the son of Kampaṇa, was much indebted to Sāyaṇāchārya not only for the administration of his kingdom during his minority but also for the liberal education imparted to him in his childhood. It appears that Sāyaṇa handed over the kingdom to Saṃgama II on his attaining majority and trans-

1. तेषामुदाहरणानि भोगनाथकाव्येषु द्रष्टव्यानि ।

2. Heras : Beginnings of Vijayanagara History, p. 94.

ferred himself to thr court of his uncle, Bukka I (1350-1379) under whom he held the important post of a minister and continued to be so even under his son Harihara II (1379–1399) when he became the ruler of the Vijayanagara empire on the death of his father.

It is but natural to think of Sāyaṇa, the commentator of the four Vedas, as a profound pandit endowed with the mental equipment of far exceptional kind; but it is amazing to find him a warlike warrior brandishing his sword on the fields of battle and showing his martial valour by feats of uncommon bravery. Indeed he was not only a great *mīmansaka* given to the abstruse speculations and interpretations of the difficult vedic mantras, but was also a practical administrator of a vast kingdom, a responsible minister of an extensive empire and above all, a valourous soldier of a high order. In Sāyaṇa we find a rare fortunate combination of vast learning and practical wisdom, speculative faculty and physical valour, पान्डित्य and वीरत्व. He gained victory over a king called Campa, a ruler of the Chola country and defeated the chief of Garudanagara[1] after attacking the city incompany with his patron Saṁgama II. His bravery finds a just appreeiation and suitable expression in the following verse of his Alaṁkāra Sudhānidhi :—

जगद्वीरस्य जागर्ति कृपाणः सायणप्रभोः ।
किमित्येते वृथाटोपा गर्जन्ति परिपन्थिनः ॥

As an administrator of a large kingdom, Sāyaṇa was no less an eminent success. When Kampaṇa died, his son Saṁgama was a mere child. Hence the administration of the state fell upon Sāyaṇa who as the regent carried out his heavy responsibilities in a really remarkable way. The following *śloka* from his *alamkāra* work speaks of the all-

1. Ibid. Ani. 1916. p. 28.

round prosperity prevailing during his time as the regent of the state—

सत्यं महीं भवति शासति सायणार्ये
सम्प्राप्तभोगसुखिनः सकलाश्च लोकाः ।

His was a very happy family life. He had three sons[1] named Kampaṇa, Māyaṇā and Singaṇa. Among these, Kampaṇa was a fond lover of music—an accomplished musician. Kāyaṇa was a good poet, clever in wrlting fine verses and beautiful prose in Sanskrit, and if his identification with Sāyaṇa-mādhava, the author of सर्वदर्शनसंग्रह, as proposed by R. Narsinhachar[2] turns out to be correct, he had full mastery over and a thorough grasp of the fundamental metaphysical problems of Indian Philosophies, both orthodox and heterodox. The third son Sāngaṇa appears to be a keen student of Vedas, an expert in क्रम and जटा recitations. Besides, he was far celebrated for his magnificent gifts given to worthy Bramhaṇas, as might be justly inferred from certain verses found at the end of his father's Bhāsya on शतपथब्राह्मण ।

According to Dr. Aufrecht[3], Sāyaṇa died in A. D. 1387 during the reign of Harihara II. Thus he flourished in the second half of the 14th Century at Vijayanagar in Southern India.

HIS WORKS

The monumental Bhāṣyas of the Vedic Samhitas and Brāhmaṇas are rightly considered to be the most important works of Sāyaṇācharya as showing his deep learning and wide erudition. But they are not the only works which our author had the good fortune of writing. Dr. Aufrecht mentions a number of other works ascribed to Sāyaṇa in various catalogues of Sanskrit Mss., but on close examina-

1. Vide Sanskrit Introduction, p. 7.
2. Ind. Ant. (1916) p. 20.
3. Catalogus Catalogorum, p. 711.

tion most of them appear to be spurious and unworthily fathered upon Sāyaṇa by mediocre writers of unknown date. The following works, however, are his genuine compositions as will be evident from the examination of even their colophons. It appears that from the very beginning of his career as a minister Sāyaṇa had the laudable intention of writing useful works on *Dharma, Vyākarana and Alamkāra* and thus under the kind patronage of the above mentioned Vijayanagara kings he wrote a number of interesting books in Sanskrit upon these diverse subjects. We mention below his writings in a chronological order as far as it is possible to make out.

Sāyaṇa's works are:—

(1) सुभाषितसुधानिधि—It is a collection of moral sayings culled from a vast literature on the subject. It appears to be the earliest work of our author and was composed, as is clear from the colophon at the end of the work[1], during the reign of Prince Kampa or Kampaṇa whose minister Sāyaṇa was.

(2) प्रायश्चित्तसुधानिधि—also known as *Karmavipāka*—deals with penances, one of the most important topics of the Hindu Dharma-s'āstras.

(3) धातुवृत्ति—popularly known as माधवीया धातुवृत्ति[2]—is an authoritative treatise on Sanskrit verbs. It deals in an exhaustive manner with the verbs given in the Dhātupātha of pāṇini. Sāyaṇa has, as a token of gratitude, named this grammatical work after his elder brother Mādhava under whose inspiration he composed most of his valuable works as will be shown later on.

---

1. इति पूर्वपश्चिमसमुद्राधीश्वरारिरायविभाळ—श्रीकम्पराजमहाप्रधान—भरद्वाजवंश-मौक्तिक—मायणरत्नकरसुधाकर— माधवकल्पतरुसहोदर— श्रीसायणार्यविरचिते सुभाषितसुधानिधौ ।

2. तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा ।
आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते ॥

(4) अलङ्कारसुधानिधि—it is a treatise on Sanskrit rhetoric and is uniqne in many ways. One remarkable peculiarity of the work consists in the fact that the majority of the illustrative verses is in the praise of the author himself. When the same author is responsible for the *kārikās* and *udaharana* in an *alaṁkara* work, generally the examples are in the praise of some deity or of some king or chief who happens to be the patron of the author.[1] But, unlike most works of Sanskrit Poetics, this अलंकारसुधानिधि gives illustrative verses in praise of its author himself and this distinguishes it from the other books of the same class. It also supplies us with interesting details about the life and personality of Sāyaṇa and his brothers, which are of considerable importance.[2]

These last three works were composed during the reign of Saṁgama II, the son of Prince Kampa, as is clear from verses given in the beginning and at the end of these works[3].

(5) पुरुषार्थसुधानिधि—It contains a collection of *Pauranika* verses on the topic of पुरुषार्थ and was written at the intance of his new patron king Bukka. It appears to be the first work of Sāyaṇa when he became attached to the court of

---

1. e. g. all the illustrations in एकावली of विद्याधर, प्रतापरुद्रयशोभूषण of विद्यानाथ and नञ्जराजयशोभूषण of नृसिंहकवि alias अभिनवकालिदास contain panegy rics of their patrons, king नरसिंह of Orissu, प्रतापरुद्रदेव of Warangal and नञ्जराज, son of वीरभूपाल o f Mysore respectively.

2. For the authors and works quoted in this book.
Vide Ind. Ant. (1916) p. 22.

3. (a) तस्य (संगमस्य) मन्त्रिशिरोरत्नमस्ति मायणसायणः ॥
तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा ।
ग्रन्थः कर्मविपाकाख्यः क्रियते करुणावता ॥
(b) अस्ति श्रीसङ्गमक्ष्मापः पृथ्वीतलपुरन्दरः ।
तस्य मन्त्रिशिरोरत्नमस्ति मायणसायणः ॥
(c) इति × × × श्रीमत्सङ्गमराजसकलराज्यधुरन्धरस्य सकलविद्यानिधानभूतस्य भोगनाथाग्रजन्मनः श्रीमत्सायणाचार्यस्य कृतावलङ्कारसुधानिधौ ॥

Bukka and thus is earlier in date than the Vedic commentaries.

(6) वेदभाष्याणि—(Vedic commentaries)—These will be treated at some length later on.

(7) आयुर्वेदसुधानिधि—It is a medical work and has been referred to by Sāyaṇa in his अलंकार work.[1]

(8) यज्ञतन्त्रसुधानिधि—This is a treatise on Vedic rituals. The last two works were composed by Sāyaṇa during the reign of Harihara II, the son and successor of Bukka I, whose generosity and high regard for the Vedic rites are eloquently praised by Sayaṇa in the beginning of these works.

Vedic Commentaries—The Vedic commentaries are monuments of vast and varied learning and as such rightly occupy the foremost place in the writings of Sāyaṇachārya. The introductory verses to the Bhāṣya on the तैत्तिरीयसंहिता make it amply clear that Sāyaṇa was entrusted with the composition of Vedic commentaries by the King Bukka on the recommendation of his elder brother Mādhava who, as the spiritual guru, was actually requested by the king for this responsible task but who, presumably owing to his multifarious engagements in other speres, declined this offer in favour of his younger brother. Thus it was under the inspiring guidance of Mādhava that Sāyaṇa wrote his learned commentaries on the Vedas which he rightly calls 'Mādhavīya' after his elder brother as a token of gratitude towards him.[2]

Sāyaṇa wrote his Bhāṣyas upon the following five well-known Vedic Samhitas—

---

1. आयुर्वेदसुधानिधिव्यसनिभिः श्रीसायणार्योदितं भैषज्यम् ।
quoted in Ind, Ant. (1916) p. 22.

2. For a fuller treatment of the problem,
see the Sanskrit Introduction pp. 14–17.

(i) तैत्तिरीयसंहिता
(ii) ऋग्वेदसंहिता
(iii) सामवेदसंहिता
(iv) काण्वसंहिता of शुक्लयजुर्वेद
(v) अथर्ववेदसंहिता

Sāyaṇa wrote his commentaries upon the different Brāhmaṇas and Āraṇyakas of the Vedas naturally enough after he had commented upon their Samhitas with the single exception of the Bhāṣya on the Satapatha Brāhmaṇa of the white Yajurveda which appears to have been composed (as is clear from the introductory verses) last of all, during the time of Harihara II. He commented upon the following Brāhmaṇas and Āraṇyakas :—

A. Brāhmaṇa of the Kṛṣṇa Yajurveda—
(1) तैत्तिरीय ब्राह्मण
(2) तैत्तिरीय आरण्यक

B. Brāhmaṇa of the Ṛgveda—
(3) ऐतरेय ब्राह्मण
(4) ऐतरेय आरण्यक

C. Brāhmaṇas of the Sāma Veda—
(5) ताण्ड्य (पञ्चविंश) ब्राह्मण
(6) षड्विंश ,,
(7) सामविधान ,,
(8) आर्षेय ,,
(9) देवताध्याय ,,
(10) उपनिषद् ,,
(11) संहितोपनिषद् ,,
(12) वंश ,,

D. Brāhmaṇa of the white Yajurveda—
(13) शतपथ ब्राह्मण

THE PRESENT WORK

The present volume contains, as has been already noticed by us, a convenient collection of all the available introductions to Sāyaṇa's commentaries upon the Samhitas

of various Vedas. A comparative study of these introductions furnishes us with the necessary information to decide the order in which they were composed. Despite the primacy of Ṛg Veda as shown by the famous mantra in the Puruṣa Sūkta[1] and the most honoured place it occupies in our sacred literature, it was Yajurveda which called for the first commentary at the hands of our author. It was proper on the part of Sāyaṇa to write his first Bhāṣya upon Yajurveda Samhita, because it is most important for the sacrifice and it is in order to perform the sacrifice that we must know the meaning of the Veda. In fact, it is absolutely needed for the prominent officiating priest called *Adhvaryu* who, being responsible for the proper guidance and practical ministration on the occasion of sacrifical rituals, is rightly believed 'to construct the very form of sacrifice'[2]. It was natural for Sāyaṇa, a follower of the Taittirīya school of Black Yajur Veda to write his first commentary upon the Samhita of his own school. Hence it can be affirmed without any shadow of doubt that the earliest introduction written by Sāyaṇa was one that belongs to the Bhaṣya of the Taittiriya Samhita.

Out of the remaining Samhitas that of the Ṛg Veda claims our greatest attention., not merely because it is required for the next important priest, the *Hotṛ*, but for the reason that it is the direct source of metrical mantras quoted by the others. It is upon the *Ṛks* contained in this Samhita that the *Saman* chants are sung. Thus being of greater importance Ṛg Veda was commented upon before Sāma, which being required for the third important priest at the sacrifice, namely the *Udgatṛ* came to have a commentary in a logical sequence after the Ṛg Veda was furnished with one. Thus the introduction to the Sāmaveda Bhāsya is the third in the order of its composition.

---

1. ऋचः सामानि जज्ञिरे (ऋ. १०।९०।९)
2. यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः (ऋ. १०।१७।११.)

The Commentary upon the three important Vedas was thus completed, but Sāyaṇa had not as yet directed this attention towards writing a Bhāṣya upon the White Yajura veda. To remove this omission, he next wrote his commen tary upon the Kāṇva Samhitā of that veda, as the other (Madhyandina) Samhitā of the same Veda was fortunate enongh to possess a learned Bhāṣya from the pen of that erudite Vedic interpreter, Āchārya Uvata, some three hundred years before Sāyaṇa. Thus the introduction to the Kāṇva occupies the fourth place in the order in which it was written.

The introduction to the Samhita of Atharva veda was the last to be written by Sāyaṇa after he had completed his comments upon the Samhitās of other vedas, Sāyaṇa's remark[1] on this point is quite conclusive when he tells us that after commenting upon Yajur-Rg and Sāma Samhitās which deal with sacrifices the fruits whereof are to be realised hereafter, he wrote his Bhāṣya upon the Atharva which treats of rituals whose results are gained here as well as hereafter. This being the natural order in which the introductions were written, we feel justified for their arrangement we have adopted here in this volume.

A RUNNING SUMMARY OF THE CONTFNTS

We beg to make here a short survey of the most important topics dealt with in these critical introductions. The first among these, the introduction to Taittiriya Samhitā, is very short and naturally the subjeets treated of therein are a few in number. As it was natural, Sāyaṇa has begun this introduction with the treatment of some of the fundamental questions about our sacred Vedas. He has proposed a sound definition of Veda and after describing the nature of the proper *Adhikarin*—person entitled to

1. Vide Verse 10, p. 119.

the study of this sacred lore—has briefly shown the authoritativeness of the Vedas. Next he has divided Veda into two *Kāndas,* the former of which deals with the four-fold actions and the latter treats of the way to realise the Brahman and of the final release from the bondage of this world as a result of the knowledge thereof. In the end he has concisely explained the appropriateness of दर्श and पौर्णमास sacrifices as the very first rituals with which the first Kāṇḍa of the Yajur Veda begins, since they have been maintained to be the प्रकृति for all the later sacrificial rites, technically known as विकृतिs ।

The introduction to his Commentary upon the Ṛg Veda Samhitā has deservedly been very popular with the students of Veda because it contains a wealth of useful information about the nature and interpretation of the Veda. Here the author has taken prodigious pains to give a thorough as well as authoritative exposition of all the fundamental questions touching not merely the Ṛg Veda to which it forms a suitable introduction but the whole field of Veda in general. The first important problem tackled by our author is the definition of Veda. Sāyaṇa has, with a sound refutation of the arguments put forth by the पूर्वपक्षिन् , very ably proved that the Vedic mantras do express some intelligible meaning which can be properly made out with the aid of the Nirukta and allied auxiliary literature, and hence that the mantra and Brahman portions of the Vedas do possess their own authoritativeness. To prove these statements our author does not hesitate in giving lengthy *Adhikaraṇās* in full from the Mīmānsā-sutra of Jaimini with his brief comments upon the sutras. After proving the अपौरुषेयत्व of Veda and describing the nature and classification of *Mantra* and *Brahmana*, Sāyaṇa has a lengthy discussion about the utility of the study of the Vedas which he concludes with recording his just praise and high appreciation for the person who thoroughly under-

stands the subtle import of the Vedic mantras as the crowning result of his successful *Svādhyāya*. To conclude his treatment of the Vedic problems, our author has given a thorough description of the six 'limbs' of Veda and has amply shown the way in which each of them help an interpreter of Veda in properly handling the divers problems connected with Veda and Vedic rituals.

The next introduction to the commentary upon Sāma veda contains pieces of very useful information which are of more technical nature than those we have as yet derived from the previous introductions. With a preliminary survey of the nature of *Mantra* and *Brāhmana* our author plunges into the deep discussion of various technical problems about the recitation and classification of *Sāman* ehants on the occasion of srcrifices. These practical problems, sixty-two in number, are based upon the texts of Purva Mimansa syrtem and the solutions proposed there of go a great way to prove the utility of *Sāmans* for the sacrifical rituals. With a brief comment upon the important topic of the expressiveness of the Vedic mantras this lengthy introduction is brought to a successful conclusion.

The author begins his introduction to the commentary upon the Kāṇva Samhitā with certain useful preliminary remarks about the nature and schools of the White Yajur veda. The important topic dealt with later on concerns the interpretation of that famous Vedic text 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' which has been explained in various ways by the different schools of Mimānsā. The utility of the study of Veda has been next treated of by our author, who, after giving an outline of the subjectst reated in the forty adhyāyas of the white Yajurvėda Samhitā and showing the appropriateness of the *Darśa* and *Paurnamāsa iṣṭis* as marking the beginning of the Vedic rituals, concludes this short introduction by his usual remarks about the nature and classification of the Vedic mantras.

Naturally in the beginning of his introduction to the Bhāsya of Atharvaveda Sāyaṇa has, on the strength of suitable authoritative texts of the *Purānas* and *Smṛtis*, treated at great length the usefulness of Atharvaveda as a distinct subject of practical study for the royal *Purohita* and the officiating priest called *Brahmā* on the occasion of Vedic sacrifices. The interpretation of the text 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' and the utility of the study of Veda as consisting of the knowledge of subtle import of the mantras it contains, with a learned criticism of the theory of Prabhākara advocated thereon, are the prominent topics which have called forth an elaborate exposition at the hands of Sāyaṇāchārya. Our author has taken very great pains in explaining the supremely important subject of *Prāmāṇya* of the Vedic texts, which he, after demolishing various theories held by the philosophical schools of different persuasion, both orthodox and heterodox, shows with the aid of learned arguments to be 'self-proved'. With a learned criticisn of the theories of the logicians and grammarians as regards the nature of 'word', Sāyaṇa proves the eternality of Veda and concludes this intersting and useful introduction with a detailed enumeration of the various actions which have been enjoined in this Samhitā.

A CRITICAL SURVEY OF THE CONTENTS.

The short survey we have made above of the important contents of these introductions will not only show that there is a logical sequence in the systematic treatment of the prominent Vedic problems here, but will also prove that they mutually supplement, in an excellent way, the information contained by each of them. It will further show that our author has dealt with two types of topics, one general and the other special. The general topics pertain to the fundamental conceptions about the nature, authoritativeness, definition and classification of Veda. In fact, every

important thing touching Veda and Vedic interpretation finds a suitable and exhaustive treatment at the hands of this great Vedic commentator. We give below a bare outline of main topics with which these introductions repeatedly deal.

Veda is defined as the sum of mantras and Brāhmaṇas-a definition adopted here from the यज्ञपरिभाषा of आपस्तम्ब.[1] After critically reviewing the various views about the authoritativeness of Veda held by the philosopher's of different schools, Sāyaṇa shows on the authority of Mīmānsā texts that the Veda is self-luminous (स्वत: प्रमाण) and can illustrate itself as well as other things.[2]. Indian नैयायिक hold on the anology of works wtitten by human authors that the Veda has also got a personal author but Sāyaṇa following the classical Mīmānsā writers has furnished conclusive proofs for the अपौरुषेयत्व of Veda[3]. The Vedas are eternal as they are self-revealed and have come into existence without the aid of any agency, divine or human. Some hold that the Veda is not worth interpretation inasmuch as some of the Mantras contained therein are ambiguous; some are absurd; some are contradictory; some repeat what is already known, while some do not convey any meaning whatsoever. Proving the incorrectness of the above view, Sāyaṇa has given an exhaustive exposition of the true nature of the Vedic Mantras[4] which are used in the sacrifices not only for the purpose of bringing out some unseen merit called *Apūrva* through their utterance but also for the purpose of expressing some intelligible meaning.

As regards a suitable definition of mantras and Brāhmaṇas into which the Veda is divided, different views have been offered and criticised and it has been shown that since, the mantras and Bāahmaṇas are so various in kind, except

1. p. 2, 15. 2. pp. 15-24, 129-133.
3. pp. 33-34, 132-134. 4. pp. 15-17. 100, 117.

denomination (समाख्यान) there is no common quality which will serve for a trne definition. So the denomination of the mantras, as they are used in the words, 'this is the mantra', is the definition of a mantra and whatever in the Veda is not a mantra is a Brāhmaṇa and that is the only convenient way of offering a workable definition of the constituents of the Veda.[1] These Vedic mantras are of three different kinds[3]—*Ṛk*, *Sāma* and *Yujuh*. Mantras in a metrical form are known as *Ṛks*, those in the form of songs are *Sāmans* and those that are neither metrical nor adopted for singing, but are in plain prose are *Yajuh* texts. It is upon this difference between the three kinds of mantras that the distinctiou between the Vedas-Ṛg. Sāma and Yajur—rests.

The Subject matter of Veda is the next important topic repeatedly dealt with in most of these introductions. Veda is divided into two sections (काण्ड), the first of which has for its subject matter the treatment of actions, while the other, the treatment of Brahma and the means of His realisation. Thus *Dharma* and *Brahma* are the subject matter respectively of the two sections into which the whole of Veda is divided. Veda is the only depository of *Dharma* and *Brahma* because these two cannot be obtained from any other source and hence their knowledge is the immediate use (प्रयोजन) of the Veda. The study of this sacred work is enjoined by such text as स्वाध्यायोऽध्येतव्यः which, though explained by different writers in different ways, has been proved to mean no merely the acquisition of some unseen spiritual reward through the bare recitation of the mantras it consists of, but also the proper understanding of the meaning of these mantras. The mastery of the text and ceremonial perfection (प्राप्ति and संस्कार) are claimed to be the real import af such sacred injunctions and the visible rewards always attending the study of Veda.

1. pp. 37-38, 112. 2. 34-36, 64-65, 82, 111.

We must, therefore, conclude that the injunction to study text of the Veda aims at the mastery of the text. The persons who are entitled by the above Sruti text to the study of this sacred work are those who belong to the three higher castes because they are permitted to have their own initiation ceremony. The women and sūdras though need that knowledge, yet should not meddle with Veda; because they have not been invested with the sacred thread and hence are prohibited.[1]

Besides the treatment of these common topics Sāyaṇa has dealt with some special subjects in his different introductions. A detailed account of दर्श and पौर्णमास with their appropriateness as the initial rites marking the beginning of the first section of Veda finds a suitable description in the introduction to the Taittirīya Samhitā. The introduction to Ṛg-veda has, besides the high praise lavished upon one who properly understands the subtle meanings of Veda, a comprehensive survey of all the six *Angas* of Veda and the aid they furnish in the interpretation of the Vedic mantras. The introduction to Sāma Veda is replete with the treatment of matters of a technical kind which deal with the complex problem of Sāma chanting. The contents of all the forty sections of the White Yajurveda along with the दर्श and पौर्णमास rituals have been dealt with in the introduction to the Kāṇva Samhitā, while the use, praise and school of the Atharva Veda with an enumeration of various actions treated therein are the proper topic which our author has carefully described in his last introduction to the Atharva Samhita. Thus a critical analysis of the content supply us with almost all the important information which we must possess, before we commence a really critical study of this ancient and difficult text.



1. pp.38–43.

CRITICAL ESTIMATE

EQUIPMENT OF A VEDIC INTERPRETER.

Our sacred Vedas are the most ancient work in the vast range of the Indo-European literature. To this element of remoteness of time must be added the depth of meanings, the obsecurity, of expressions and the obsoleteness of grammatical forms. The result is that to do full justice to and to interpret the subtle import of the mantras of the Vedas in a thoroughly satisfactory manner is a work of no small magnitude. Hence an interpreter of the Veda must have some traditional materials at his command before he sets on ths difficult task of elaborately elucidating the varied and various meanings of their mantras. The most important of these traditional materials, greatly needed for a Vedic scholar, are those that are supplied by the well-known six limbs (Vedāṅga) of the Veda, namely शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरूक्त, छन्दस् and ज्योतिष। *Śikshā*[1] wherein is taught the method of pronouncing letters, accents etc. is absolutely needed for the accurate recitation of the Vedic mantras. *Kalpa*[2] stating as it does the application of the various texts, is useful in teaching the performance of the sacrifice. Grammar[3] should be studied for determining the forms and meanings of words from the instruction it gives as to roots, suffixes and the like and thus it is of immense value in the exposition of the meaning of Vedic words, because only that person who knows the laws under which letters are dropped, or added, or modified, will be able adequately to guard the Vedas and to understand their meaning. Nirukta teaches us the elymologies of difficult words of the Veda and sufficiently supplements the aid given by Sanskrit

---

1. स्वरवर्णाद्यपराधपरिहराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः P. 50
2. कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति P. 51.
3. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् पालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति—महाभाष्य P. 51.

grammar[1]. *Chandas* is useful for knowing the meters of the mantras and *Jyotisa* for determining the times an seasons proper for sacrifices. Besides these six *Angas*, a Vedic interpreter must be endowed with the knowledege of the very interesting and useful materials contained in the Purāṇas, Itihāsas[2] and Dharma Shastras, because without these a man cannot properly appreciate and thoroughly understand the associations which have gathered, during a long time, round the sacred mantras of the Veda. He must be well versed in the auxiliary Vedic books known as *Anukramaṇis* as well and with their aid must know the *ṛṣi*, metre and *devatā* of every mantra[3]. But the most essential subject of study immensely needed for the traditional exposition of the fundamental problems touching Veda and Vedic interpretation must be that eminent system of Hindu thought commonly known as Mimānsā. The supreme purpose for which the department of konwledge came into being is, as rightly suggested by its very name, to investigate the definition and nature of Veda and the apparant contridictions which to a superficial mind seem to exist in the various rituals treated by the different Vedas[4]. 'Its purpose', rightly says Somanātha in his Mayūkhamālā, is to determine sense of revelation'.

Hence for a scholar who wishes to dive deep into the true meanings and subtle significance of the Vedic mantras, an acquaintance with the Mimānsā doctrines and rules of Vedic interpretation is absolutely essential by way of

1. तादद् विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। तस्माद् वेदार्थविबोधाय उपयुक्तं निरुक्तम् P.50

2, इतिहसपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् (म० भा० १।१।२६९)

3. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वच्छंति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति—का० अनु०

4. पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव P. 58.

introduction before he proceeds directly with the Vedic texts. Judged by these requirements of a Vedic interpreter wich a critical introduction must necessarily contain, these introductions of Sāyaṇa to his commentaries upon the various Vedic Samhitās turn to be orthodox models of what truly useful and authoritative introduction should be.

SĀYAṆA AS A VEDIC COMMENTATOR.

The great Sāyaṇāchārya has made the most direct and most important contributions to the Vedic exegesis. In inerpreting the Veda he rightly exploits the aid afforded by the six Vedic Aṅgas, the Puraṇās, and the Mimānsā. He is a thorough-going *Mimānsaka* and therefore in his commentary upon the Vedas he justly re-inforces the substantial aid given by the other departments of knowledge by the profound and traditional views of the Vedic interpretation which Mīmānsā contains. In these very informing and learned introductions to his Bhāṣya upon the Vedas he has furnished all the important preliminary matters which a student, before he sets sail npon the vast ocean of the deeply significant Vedas, must be in possession of. It is natural to find Mīmānsā playing a very significant role in these critical Introductions. Indeed, they are replete with the most fundamental views and the traditional doctrines which Mīmānsā has to propound about the nature, infallibility and authoritativeness of our sacred Vedas. We shall very briefly show the nature of Mimānsā doctrines which our author has so ably set forth in the pages of these Introductions.

The doctrine that the Vedic mantras are expressive of intelligent meanings is based upon the मन्त्रलिङ्गाधिकरण

of Mīmānsā Sutras, first Adhyāya, 2nd Pāda, Sutras 31-53. The अर्थवाद portion of the Brahmaṇas has been mentioned to have an equal authoritativeness with that portion which deals with the injunctions (विधिs) and it is based upon the 1st Adhikaraṇa of the second Pāda of the first Adhyāya, Sutras 1-18, known as अर्थवादाधिकरण. The proposition which proves that the Vedas do not owe their existence to the agency of any personal author but are eternal is likewise founded upon the वेदापौरुषेयत्वाधिकरण (1, 1, 27-32) of पूर्वमीमांसा। The definition of mantra and Brāhmaṇa and the threefold divisions of mantras into ऋक, यजु: and साम along with their proper definitions have their basis in the different Adhikaraṇas of the first Pada of the second Adhyāya, Sutras 32-37. So much for the common topics repeatedly treated by Sāyaṇa in these Intoductions. As regards the special subjects dealt with here, the Mīmānsā sutras are no less laid under contribution. Thus the whole of the elaborate Introduction to the सामसंहिता contains a detailed exposition of 62 technical topics पूर्वमीमांसा which have got their bearings upon the various complex problems of the singing of Sāmans and their utility and application for the purpose of sacrifice. Indeed, the whole of this Intoduction consists of lengthy extracts from the different Adhyāyas of जैमिनिन्यायमालाविस्तर, a very important work on पूर्वमीमांसा, composed by his elder brother, the great Mādhavāchārya. The lengthy and learned discussion about स्वाध्यायाध्ययन in the introduction to काण्वसंहिताभाष्य and प्रामाण्यवाद of Veda with a critical survey of the different doctrines held by the followers of different philosophical schools which our author has made in the introduction to अथर्वसंहिता भाष्य truly prove the great service into which the Mīmānsā doctrines have been pressed for expounding the important views held by the traditionalists about the supreme authoritativeness of the Vedas and the complete usefulness of their intelligent study.

THEIR USEFULNES FOR A MODERN STUDENT OF VEDA.

We have repeatedly asserted that the Vedic commentaries written by Sāyāṇāchārya are, in spite of their occasional apparent contradictions in the interpretation of certain Vedic passages, the only sure and consistent guide in the understanding and the exegesis of the Mantras of the Vedas. They are valuable not only for an orthodox Vaidika but also for a modern student of this ancient literature of the Hindus. Those who press the sciences of Comparative Philology and Comparative Mythology into the service of Vedic exegesis will find in these illuminating Bhāṣyas matters which are of especial interest to them. Sāyaṇa has, in the course of his commentaries taken into account the valuable helps rendered by the sciences of Etymology (Nirukta) and Grammar (Vyākaraṇa). Our author has not only utilised the contributions made by Yāska in his Nirukta but has himself proposed suitable meanings of difficult Vedic words in accordance with the rules of Etymology, where Yāska is wholly silent. The science of grammar has been, specially in the commentary upon the first *Astaka* of Ṛgveda, fully taken into account in the interpretation of the Vedic Mantras where accents play important parts. Sāyaṇāchārya has collected every item of mythological interest associated with the meaning of Vedic hymns which will yield even a modern student of Veda a rich harvest of very useful results. Besides these, Sāyaṇas commentaries are the only extant Bhāṣyas complete in every respect in a vast commentorial literature which has gradually grown round the Vedas. In these, Sāyaṇa has utilised even those valuable comments which are perhaps lost for ever or are only partially known to us in these times. Under these circumstances, Sāyaṇa is the only commentator who can supply us with the direct

traditional meanings of the Mantras as handed down from generation to generation of the native Vedic interpreters. We firmly believe that a really sympathetic and critical study of Sāyaṇa's Commentaries will be valuable even from the stand-point of a modern student of Vedas engaged in unraveling the hidden mysteries of the Vedic language and religion.

The introductions to these Vedic commentaries we have collected here amply furnish a student of Veda with all the supremely important doctrines which he must possess before he directly begins the practical study of the Vedic texts. Besides, these will impart the necessary insight into properly appreciating and clearly understanding the genuine spirit in which Sāyaṇa has written his learned and monumental Bhāṣyas. We have firm belief that a precice study of these valuable Introductions will show us not only the traditional mode of the proper interpretation of the Vedas but also the right way in which these most ancient sacred texts should be handled. It is the sheer misunderstanding of the view-point of this eminent Vedic commentator which has unnecessarily called forth the undeserved obloquy heaped. upon the sacred head of the great Sāyaṇa not only by the so-called foreign Vedic scholars who, placed as they are, are wholly ignorant of the important traditions and associations which have grown round this most ancient and sacred work in course for many centuries but also by the various Indian disciples of these European Gurus, who, though fortunate enough to be in a position to understand properly the defferent Vedic traditions, do blindly follow their lead and feed the unfortunate young students placed under their care upon the ill-digested and half-baked theories of these 'western Vaidikas'. Indeed, the only safe guide which we possess in these times when even the masters of the

'historical methed' differ from one another as regards the obvious meanings and plain enterpretations of easy Vedic Mantras is the traditionally uniform and deeply suggestive Bhāṣyas of Sāyaṇa With his scholastic interpretations the great Sāyaṇācharya has been, and indecd will be, the supremely reliable guide to effect our first entrance into the manifold mystries of this impregnable fortress of Vedic language and Vedic religion. In fact, every one who enters on the study of Veda owes in an abundant measure a deep debt of gratitude to this great authority on the Vedic exegesis. We cannot properly imagine what the condition of Vedic scholarship would have been to day without the वेदार्थप्रकाश of our eminent author in which the great Vedic exegesist has not left a single word unexplained, however obscure it may be. It is not that this eminent service done by Sāyaṇa has not been recognised even by the modern Western scholars who have devoted their time and labour towards a really critical and in a way intensive study of this most ancient Aryan literature. Thus Prof. Wilson is amply justificd (and we believe thoroughly impartial) when he makes these critical remarks in the introduction to his translation of the first *Astaka* of Ṛg-Veda—'He (Sāyaṇa) undoubtedly had a knowledge of his text far beyond the pretensions of any European scholar, and must have been in possession, either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretation which had been perpetuated by traditional teaching from the early times'.

We beg to conclude our very humble remarks as to the great intrinsic worth of Sāyana's work as a truly reliable guide in the difficult task of interpretation of Vedic Mantras with the following extract from. Prof. Max Muller's preface to his Vedic Hymns (Part I p. XXX):— Those who recollect the history of Vedic scholarship during

the last five and twenty years know best that with all its faults and weaknesses, Sāyana's commentary was a *sine qua non* for a scholarlike study of the Ṛgved. I do not wonder that others who have more recently entered on that study are inclined to speak disparagingly of the scholastic interpretations of Sāyaṇa. They hardly know how much we all owe to his guidance in effecting our first entrance into this fortress of Vedic language and Vedic religion, and how much even they, without being aware of it, are indebted to that Indian Eustathius... ... ...We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at least have gained a firm footing without leading strings.'

Hindu University
Benares.
16-3-34.

BALADEVA UPADHYAYA

प्रस्तावना

उपक्रमः

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥

—मनुः ।

अथाभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिहेतुकस्य धर्मस्य परमार्थभूतसिद्धान्तनिचयावगतेः साधनभूता जगतमैहिकामुष्मिकपरममङ्गलसम्पादनाय भगवता करुणावरुणालयेनाविर्भावं प्रापिता भगवन्तो वेदा एवाऽऽस्माकं धर्मसर्वस्वमिति केषां शास्त्रज्ञानजुषां विदुषां नावगतम् । नैवास्माकं मानवानाम्, अपि तु देवानां पितृणामपि वेद एव सनातनं चक्षुरिति । चतुर्णां वर्णानां, त्रयाणां लोकानां चतुर्णाम् आश्रमाणां, भूतस्य भव्यस्य भविष्यतश्च सकलस्य वस्तुजातस्य प्रसिद्धिस्थानं भगवती श्रुतिरेवेति मनुवचने कः खलु सचेताः सन्दिग्धे ? वेदशास्त्रं विहाय नैवान्यन् किमपि परं साधनं यन् खलु जन्तून् परमार्थभूतां मोक्षपदवीमुपदिशति । मनुरपि अमुमेवार्थं साधु समर्थयति—

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥

अत एव वेदार्थतत्त्वज्ञस्य भूयसी प्रशंसा शास्त्रेषूपलभ्यते । वेदार्थज्ञानं नाम मानवानां परमं कर्तव्यम्, प्राधान्यतो ब्राह्मणानाम् । अत एवोक्तमाचार्यैः—निष्कारणं ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च । स्मर्यते च मानवे धर्मशास्त्रे—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

अथ विदितमेव विमलधिषणानां विद्वद्धौरेयाणां चतुर्वेदभाष्यरचयितुस्तत्रभवतः श्रीसायणाचार्यस्याभिधानम् । अखिलेऽस्मिन् भारते वर्षे नास्त्येव तादृक् कश्चन वेदशास्त्रज्ञानसम्पन्नो विपश्चित् येन नाधुनापि श्रुतिगोचरीकृतं श्रीमतां सायणाचार्याणां नाम । श्रीमता सायणाचार्येण विरचितानि निखिलमपि सरहस्यं श्रुत्यर्थजातं प्रदीपा इव प्रकाशयन्ति अज्ञानतमस्काण्डमुन्मूलयन्ति चतुर्णामपि वेदानां भाष्याणि सततं रञ्जयन्ति विपश्चितां चेतांसि । साम्प्रतं भगवत्याः श्रुत्या यः कश्चिदर्थः प्रतीयते, यत् किमपि रहस्यमस्माकं बुद्धिपथमवतरति, निखिलमपि तत् श्रीसायणाचार्यस्यानुग्रहविलसितमेवेति ध्रुवं मन्यामहे । सर्वेषां वेदभाष्याणामारम्भे तत्रभवता ग्रन्थकृता उपोद्घातरूपेण वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्व-सार्थकत्वानर्थकत्वादिनिबन्धनं बहवो वेदज्ञानामवश्यं ज्ञातव्या विषया निबद्धा विलसन्ति । तत्र ऋग्वेदभाष्योपोद्घात एव यत्र क्वापि मुद्रितचरः । यजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदानां भाष्योपोद्घाता न कुत्रापि बहुमूल्यसम्पन्नं भाष्यपुस्तकं विहाय पृथङ् मुद्रिता इति तेषां सर्वेषामेकत्र पुस्तकरूपेण प्रकाशनं वेदाभ्यासिनामुपकाराय अल्पसाधनानाञ्च विद्यार्थिनामुपयोगाय भृशं भविष्यतीति मदीयो नूनं विश्वासः । महान्तो महार्घाश्च भाष्यग्रन्था न सर्वेषां जिज्ञासूनां सुलभा इति हेतोः श्रुतिविषयकनिखिलरहस्यप्रतिपादकानां सर्वेषामेव भाष्योपोद्घातानामेकत्र प्राथमिके प्रकाशने नः परम एष आदरः ।

श्रीसायणाचार्यस्य जीवनवृत्तम्

साम्प्रतं वेदभाष्यप्रणेतुः श्रीसायणाचार्यस्य जीवनवृत्तान्तमधिकृत्य किमपि संक्षेपेण विचारयामः । दिष्ट्या भाग्यभाजो वयं यदावश्यकं सकलमपि श्रीसायणीयं वृत्तं ज्ञातुं विद्यन्तेऽस्माकमुपयोगाय प्रमाणभूतानि बहूनि साधनजातानि । ग्रन्थकृद्भिरेव स्वनिर्मितानां ग्रन्थानामादौ स्ववंशपरिचयः स्वयमेव प्रदर्शित इति नितरामस्माकं प्रमोदस्थानम् । विजयनगरमहाराजाधिराजानां बहूनामपि शिलालेखेभ्यः शासनपत्रेभ्यश्च बह्वप्यपेक्षितं वृत्तजातमुपलभ्यते श्रीमदाचार्यवर्याणामित्यपरमपि हर्षनिदानमैतिहासिकानाम् ।

तत्र सायणस्य जनको मायणो नाम जननी च श्रीमतीनाम्नी । गोत्रेण स भारद्वाजो बभूव । कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयशाखा बोध्यायनसूत्रं च तस्य स्वीये आस्ताम् । तस्य द्वौ भ्रातरौ वेदशास्त्रसम्पन्नौ बृहस्पतिशुक्रसदृशावभूताम् । तयोर्ज्यायान् माधवाचार्यो विजयनगरसाम्राज्यसंस्थापकानां महाराजाधिराज-

हरिहराणामासीत् मन्त्रिमूर्धन्यो विपश्चिदपश्चिमश्च। कनीयान् श्रीभोगनाथश्चाभवत् संगमनरपतेः नर्मसचिवः कमनीयकाव्यकलाकुशलः कवयिता च। एतत् सर्वं वृत्तान्तजातं सायणीयग्रन्थांशानामधोलिखितानामालोचनया स्फुटं भविष्यति।

अलङ्कारसुधानिधौ—

महेन्द्रवन्माननीयो मन्त्री मायणसायणः।

मण्डलेषु कृतचारमण्डलः सायणो जयति मायणात्मजः।

मन्त्री मायणसायणस्त्रिजगतीमान्यापदानोदयः।

इति श्रीमत्पूर्व-पश्चिम-दक्षिणोत्तर-समुद्राधिपतिबुक्करायप्रथमदेशिकमाधवाचार्यानुजन्मनः श्रीमत्संगमराजसकलराज्यधुरन्धरस्य सकलविद्यानिधानभूतस्य भोगनाथाग्रजन्मनः श्रीमत्सायणाचार्यस्य कृतावलङ्कारसुधानिधौ।

सुभाषितसुधानिधौ—

भरद्वाजान्वयभुजा तेन सायणमन्त्रिणा।

व्यरच्यत विशिष्टार्थः सुभाषितसुधानिधिः॥

इति पूर्वपश्चिमसमुद्राधीश्वरारिरायविभाल-श्रीकम्पराजमहाप्रधान-भरद्वाजवंशमौक्तिक-मायणरत्नाकरसुधाकर-माधवकल्पतरुसहोदर—श्रीसायणार्यविरचिते सुभाषितसुधानिधौ।

प्रायश्चित्तसुधानिधौ—

तस्य (सङ्गमस्य) मन्त्रिशिरोरत्नमस्ति मायणसायणः॥

तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।

ग्रन्थः कर्मविपाकाख्यः क्रियते करुणावता॥

श्रीमाधवभोगनाथसहोदरस्य मायणनन्दनस्य सायणाचार्यस्य कृतौ प्रायश्चित्तसुधानिधौ।

यज्ञतन्त्रसुधानिधौ—

तस्या (सङ्गमस्या)भूदन्वयगुरुस्तत्त्वसिद्धान्तदर्शकः।

सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः॥

उपेन्द्रस्येव यस्यासीदिन्द्रः सुमनसां प्रियः।

महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यः सहोदरः॥

अधीताः सकला वेदास्ते दृष्टार्थगौरवाः ।
तत्प्रणीतेन तद्भाष्यप्रदीपेन प्रथीयसा ॥

माधवीयधातुवृत्तौ—

अस्ति श्रीसंगमक्ष्मापः पृथ्वीतलपुरन्दरः ।
तस्य मन्त्रिशिरोरत्नमस्ति मायणसायणः ॥
तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा ।
आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तीर्विरच्यते ॥

माधवाचार्यः

बभूव माधवाचार्यः सायणाचार्यस्य ज्यायान् भ्राता । निखिलेषु पारमार्थिकेषु व्यावहारिकेषु च विषयेषु अस्य शेमुषी नितान्तं सप्रसराऽऽसीदिति प्राचीनेतिहासजुषां केषां विदुषां नाव्रतम् । अयं खलु चतुर्दशशतके दक्षिणभारते विजयनगरसाम्राज्यप्रतिष्ठातुः श्रीमन्महाराज–हरिहरस्य आध्यात्मिकगुरुर्नीतितत्त्वव्याख्याता निपुणो मन्त्रिवरोऽप्यभवत् । माधवाचार्यस्योपदेशानामेवेदं परिणतं फलं यत् विनाशमुपेयुषि वारङ्गलनद्दीपतिकुले, प्रबलयवनाक्रमणैः खिलीकृते निखिले दक्षिणभारतीयप्रजावर्गे, महाराजहरिहरेण गोब्राह्मणानां हिताय, आर्यसभ्यतायाः समुदयाय, स्वातन्त्र्यलक्ष्म्या अभ्युदयाय च, नवीनमेव विजयनगरेति नाम्ना भारतेतिहासे प्रख्यातं साम्राज्यं प्रतिष्ठापितम् । पूर्वोत्तरमीमांसयोः विस्ताराय धर्मशास्त्रस्य च प्रचुरप्रचाराय बहून् ग्रन्थान् प्रणिनाय श्रीमन्माधवाचार्यः । तेषु च मुख्यतमा विलसन्ति अधोनिर्दिष्टा ग्रन्थाः— (१) पराशरस्मृतिव्याख्या (पराशरमाधवः), (२) व्यवहारमाधवः, (३) कालमाधवः, (४) जीवन्मुक्तिविवेकः, (५) जैमिनीयन्यायमालाविस्तरः, (६) शङ्करदिग्विजयः ।

विजयनगराधीशस्य सभामन्य एव कश्चन माधवाचार्यात् भिन्नः अमात्यमाधव आसीदिति श्रूयते यः खलु चाबुण्डभट्टस्य काशीविलासक्रियाशक्तिनाम्नः शैवाचार्यस्य शिष्यः महाराजप्रथमबुक्कस्य द्वितीयहरिहरस्य च व्यवहारप्रवीणो मन्त्री वनवासीगोवाप्रदेशयोः तुरुष्कात् समुद्धर्ता युद्धविद्यावरिष्ठः शासकश्च बभूव । स स्वयमेव शिलालेखेषु केषुचित् स्वविजयप्रशस्तिमुद्घोषयति ।

आशान्तविश्रान्तयशाः स मन्त्री दिशो जिगीषुर्महता बलेन ।
गोवाभिधां कोंकणराजधानीमन्येन मन्येऽरुणदर्णवेन ॥

अतिष्ठितांस्तत्र तुरुष्कसङ्घानुत्पाट्य दोष्णा भुवनैकवीरः ।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां यः ॥

× × × ×

गोत्रे योऽङ्गिरसां प्रचण्डतपसश्चावुण्डपृथ्वीसुर-
प्रष्ठादुद्भवमेत्य नीतिसरणौ दत्तां धियं धैषणीम् ।
सूरिः सन्नपि सर्वदानवमनःप्रह्लाददानोचितां
यद् भूयः कवितां व्यनक्ति तनुते नो कस्य तेनाद्भुतम् ॥

अनेन उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्येण महामन्त्रीश्वरेण श्रीमता माधवेन स्कन्दपुराणान्तर्गत-सूतसंहितायाः तात्पर्यदीपिकाभिधाना व्याख्यापि व्यरचीति आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावल्यां प्रकाशितस्य तद्ग्रन्थस्य पुष्पिकातो[1] ध्रुवं प्रतियते । अयं खलु भुवनैकवीरो माधवामात्यो माधवाचार्यादभिन्न एवेति पण्डितानां प्रयोवादः । वस्तुतस्तु केवलं नामसाम्यं भजन्तौ भिन्नावेवोभौ विद्वद्वरेण्याविति सिद्धान्तः ।

गृहस्थाश्रमं विहाय संन्यासधर्मदीक्षितो माधवाचार्य एव विद्यारण्येति नामालभत । अतः माधवाचार्यो विद्यारण्यश्चाभिन्नावेवेति प्राचीनानां पडितानां सम्प्रदायः । केचिन्नविनास्तु विषयेऽस्मिन् सन्देहदोलाधिरुढा एव दृश्यन्ते, परन्तु प्रमाणाभवात् न तेषां वाचोयुक्तिः सहृदय हृदयमाकर्षति । विद्यारण्येन वेदान्तसिद्धान्ततत्त्वप्रकाशिका पञ्चदशी विरिचितेति प्रसिद्धमेव । सायणेन अलङ्कारसुधानिधौ निबद्धा माधवाचार्यस्य प्रशस्तिरियं नूनं प्रशस्ता तथ्य-सम्पन्नेति अस्माकं विश्वासः—

अनन्तभोगसंसक्तो द्विजपुङ्गवसेवितः ।
सचिवः सर्वलोकानां त्राता जयति माधवः ॥

सर्वदर्शनसङ्ग्रहस्य रचयिता माधवोऽस्मान्माधवाचार्यात् भिन्न एवेति सप्रमाणं निरुपयन्ति आर नरसिंहाचार्यमहोदयाः[2] ।

---

१. श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना । श्रीमत्त्र्यम्बकपातात्ब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा । तात्पर्यदीपिका सूतसंहिताया विधीयते ॥

२. इण्डियन ऐण्टिक्वेरीति प्रख्याततमस्य पत्रस्य १९१६ वर्षे, २० तमे पृष्ठे ।

भोगनाथः

श्रीसायणाचार्यस्यानुजो भोगनाथोऽभवत्। स खलु बित्रगुण्टशासनपत्रस्थप्रशस्तेः रचयिताऽऽसीत्। तस्मिन् भोगनाथः आत्मानं सङ्गमनरपतेर्नर्मसचिवत्वेन व्यपदिशति। सायणाचार्यविरचितालङ्कारसुधानिधेः परिशीलनं भोगनाथस्य सङ्गम(द्वितीय)भूपतेश्च नितान्तं स्निग्धं परिचयं प्रमाणीकरोति। तथा च तत्रत्यौ श्लोकाविमौ निदर्शनम्—

अन्योन्यप्रणयापराधनिभृतव्यापारदीनात्मनोः
देवीसङ्गमयोः पराङ्मुखतयाप्येकासने तस्थुषोः।
मध्ये सायणमन्त्रिणा न भणितं श्रीभोगनाथेन वा
नोक्तं नर्मसखीजनेन च तदप्यन्योन्यमुद्वीक्षितम्॥

भूभृतः सङ्गमेन्द्रस्य भोगनाथस्य वा कवेः।
वारणां वारणो वाथ द्वारि प्रविशतां हि ये॥

प्रशस्तिलेखकस्य भोगनाथस्यासीदलौकिकी प्रतिभा असाधारणं च नैपुण्यं कविकर्मणि इति तु निपुणं वक्तुं शक्नुमः। परन्तु तद्विरचितसरसकाव्यानामलाभोऽस्माकं नितरां परिखेदस्थानमासीत्। अधुना सायणीयालङ्कारसुधानिधौ बहूनां तत्काव्यग्रन्थानामुल्लेखात् दिष्ट्या वर्धतेऽयं महाकविर्भोगनाथः। सुधानिधौ भोगनाथीयप्रतिभोल्लासिनः सन्त्येतेऽधोनिर्दिष्टाः ग्रन्थाः समुद्दिष्टाः। ते तु यथा—(१) रामोल्लासः, (२) त्रिपुरविजयम्, (३) उदाहरणमाला, (४) महागणपतिस्तवः, (५) शृङ्गारमञ्जरी, (६) गौरीनाथाष्टकम्। उदाहृतपद्यानामालोचनया ध्रुवं प्रतीयते यत् भोगनाथः प्रतिभासम्पन्नः कवयिता बभूव। तथा बभूव च माधवाचार्यसायणाचार्ययोः सर्वथानुरूपो भ्राता। कतिपये तस्य सरसाः श्लोकाः सहृदयहृदयोल्लासाय अत्र समुद्ध्रियन्ते—

ईषन्मृष्टकुरङ्गनाभितिलकैरिद्धाम्बुघर्मोदयै-
र्व्यक्तीभूतरदक्षतव्यतिकरैर्व्याकीर्णचूर्णालकैः।
शाम्यत्कुण्डलताण्डवैः शशिमुखीवक्त्रैस्तदा व्रीडितै-
रम्भोविभ्रमदर्पणैर्निजगदे सम्भोगलीलश्रमः॥ —शृङ्गारमञ्जर्याम्।

उपर्यधोरचितमयश्च राजतं तयोर्द्वयोः कनकमयं च मध्यतः।
पुरत्रयं दहनविधेः पुरोऽप्यगात् सधूमतां सदहनतां सभस्मताम्॥
—त्रिपुरविजये।

कष्टाय प्रसवाय शास्त्रपदवीशिष्टाय काङ्क्षानल-
प्लुष्टाय प्रथमानमत्सरगुणाविष्टाय दुष्टात्मने ।
रुष्टाय प्रतिषिद्धकार्यघटनातुष्टाय सृष्टागसे
गौरीनाथ! गुणाधिनाथ! जनक! प्रीणातु मह्यं भवान् ॥

—गौरीनाथाष्टके ।

उपलभ्यते ह्यन्यदावश्यकं कौटुम्बिकं सायणीयं वृत्तं तद्रचितालङ्कारसुधानिधिस्थोदाहृतात् पद्यजातात् । ज्ञायतेऽधोनिर्दिष्टात् पद्यात् यत् सायणाचार्यस्य त्रयः सूनवोऽभवन् कम्पणो मायणः शिङ्गणश्च । तेषु अकलयत् कम्पणः सगीतकलासु कामपि कमनीयां कुशलताम् । अभवत् मायणः काव्यकलावीथीपथिको गद्यपद्यरचनाचणश्चतुरः कवयिता । अलभत च शिङ्गणः क्रमजटाचर्याचर्चितवेदाभ्यासेषु कामपि विस्मयनीयां चातुरीम् । त्रयोऽप्येते सायणाचार्यस्य सुताः बभूवुः स्वस्वशास्त्रेषु प्रकृष्टपाण्डित्यमण्डिता विपश्चिदपश्चिमाः । तथा च श्लोकः—

तत् संव्यञ्जय कम्पण! व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव
प्रौढिं मायण! गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय ।
शिक्षां दर्शय शिङ्गण! क्रमजटाचर्चासु वेदेष्विति
स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः सम्मोदते सायणः ॥

—अलङ्कारसुधानिधौ ।

सायणस्य गुरवः

सायणाचार्येण तद्भ्रातृभ्यां च विरचितानां ग्रन्थानां परिशीलनतो ज्ञायते यत् तेषां त्रयो गुरवोऽभूवन् । प्रथमो विद्यातीर्थः, द्वितीयो भारतीतीर्थः, तृतीयः श्रीकण्ठः । एतेषु विद्यातीर्थो महान् तपःसम्पत्तिसम्पन्नो यतिराजः रुद्रप्रश्नभाष्यस्य प्रणेता परमात्मतीर्थानां शिष्यश्च बभूव । विद्यावैभवप्रभावेण विद्यातीर्थं महेश्वरस्यावतारत्वेन वर्णयति सायणाचार्यः सर्वेषां वेदभाष्याणामुपक्रमे—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

विद्यातीर्थस्यैव शृङ्गेरीपीठे मूर्तिं विद्याशङ्करेति नाम्ना माधवाचार्यो निरमापयत् । अनुभूतिप्रकाशस्थोऽयं श्लोकः स्फुटं प्रकाशयति यत् विद्यातीर्थो माधवाचार्यस्य मुख्यो गुरुरासीदिति ।

अन्तःप्रविष्टः शास्तेति योऽन्तर्यामिश्रुतीरितिः ।
सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

भारतीतीर्थः शृङ्गेरीपीठस्थो गुरुरासीत् । एतस्य नाम माधवाचार्येण पराशरस्मृतिव्याख्यायां जैमिनीयन्यायमालाविस्तरे च बहुशः सादरमुल्लिखितं दृश्यते । काञ्चीस्थशासनपत्रे सायणः श्रीकण्ठाचार्यमात्मनो गुरुं निर्दिशति । माधवाचार्यस्य भोगनाथस्य च ग्रन्थेषु श्रीकण्ठनाथः गुरुरूपतामादधानो बहुषु स्थलेषु नाम्ना समुद्दिष्टो विलसतितरामिति न परोक्षं तद्ग्रन्थविवेचनशीलानां विवेचकानाम् । भोगनाथः श्रीकण्ठं स्वमहागणपतिस्तवे सम्यग् स्तौति—

मन्दारश्च तरुः परेऽपि तरवो मेरुश्च शैलः परेऽ-
प्याः शैलाः कमलागृहस्थशयनं चाब्धिः परेऽप्यब्धयः ।
श्रीकण्ठश्च गुरुः परेऽपि गुरवो लोकत्रयेऽप्यद्भुतं
भक्ताधीनभवाँश्च दैवतमहो सर्वेऽप्यमी देवताः ॥

आश्रयदातारः

सायणोऽभजत चतुर्णां विजयनगराधीशानां साम्राज्येऽतिगौरवसम्पन्नं महामन्त्रिपदम् । तेषु प्रथमः बुक्कमहीपतिरासीत् । स खलु विजयनगरस्य प्रथमाधिपतेः महाराजाधिराजश्रीहरिहरस्य भ्राताऽभवत् । अयमेव वेदार्थप्रकाशनाय मन्त्रिवरं माधवाचार्यमादिशत् । अस्यैवादेशं स्वेद्भ्रातृमुखेनाऽऽदाय वेदभाष्याणां प्रणयने प्रवृत्तोऽभवत श्रीमत्सायणाचार्यः । वेदभाष्येषु सायणः आत्मानं बुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धर इति बहुधा वर्णयति । सायणेन बुक्कभूपतेरनुजस्य कम्पराजस्य (कम्पणस्य) महाप्रधानपदमधिकृतमासीदिति सुभाषितसुधानिध्यादिग्रन्थानामालोचनया प्रतीयते । कम्पणभूपतिरेष जीवत्येव ज्यायसि बुक्कणनरपतौ आत्मनो बाहुबलेन नेल्लोर-कुड्डाप्पादिस्थले स्वतन्त्रं राज्यमेकं स्वीयमस्थापयदिति आमनन्ति भारतीयेतिहासविदः । दिवंगतेऽस्मिन् नरपतौ तत्सुतस्य सङ्गमनरेन्द्रस्य प्रधानामात्यपदं स्वीचकार सायणः । सङ्गम (द्वितीय)नरेन्द्रोऽयं बाल्यकालादेव सायणाचार्यस्य शिष्यो बभूव । सायणेन बह्वीषु विद्यासु कलासु च पाठितोऽयं सङ्गमभूपतिरगच्छत् किमपि पाटवं शासनकर्मणि । अधोलिखितैः श्लोकैरैतिहासिकं तथ्यमिदं स्फुटमनुमातुं शक्यते विवेचकबुद्धिभिर्विद्वद्भिः—

सत्यं महीं भवति शासति सायणार्ये
सम्प्राप्तभोगसुखिनः सकलाश्च लोकाः ॥

× × ×

सम्यक् शिक्षां सचिवगमितः शैशवे सायणार्य !
प्रौढिं गाढां प्रकटयति ते सङ्गमेन्द्रः प्रयोगे ॥

अन्यच्च सायणः समुपागते स्वीये वार्धक्ये हरिहर(द्वितीय)महाराजाधिराजस्य साम्राज्यधुरमवहत् इति तद्ग्रन्थेभ्यः स्फुटमवभासते । अथर्वसंहिताभाष्ये सायणार्य आत्मानं श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वर-श्रीवीरहरिहरमहाराजस्य साम्राज्यधुरन्धरत्वेन वर्णयति । आसीदेष हरिहर-महाराजो बुक्कमहीपतेः सूनुः । हरिहरनरपतिरयं पराक्रमशाली धर्मपथपथिकः प्रजारञ्जनतत्परो वेदार्थरसिकश्चाभवत् । सायण एनमथर्वसंहिताभाष्योपोद्घाते प्रशस्तं स्तौति—

विजितारातिव्रातो वीरश्रीहरिहरक्षमाधीशः ।
धर्मब्रह्माध्वन्यः कलिं स्वचरितेन कृतयुगं कुरुते ॥ ५ ॥
साधयित्वा महीं सर्वां श्रीमान् हरिहरेश्वरः ।
भुङ्क्ते बहुविधान् भोगानसक्तो रामवत् सुधीः ॥ ६ ॥
विजयी हरिहरभूपः समुद्वहन् सकलभूभारम् ।
षोडश महान्ति दानान्यनिशं सर्वस्य तुष्टये कुर्वन् ॥ ७ ॥

एतेषामेव बुक्क(प्रथम)कम्पराज-सङ्गमराज(द्वितीय)–हरिहर(द्वितीय)-भूपतीनां विजयनगराधीश्वराणां साम्राज्यधूः श्रीमतां सायणार्येन निपुणमूढेति सप्रमाणं गदितुं पार्यतेऽस्माभिः ।

आविर्भावकालः

एतेषु निर्दिष्टेषु भूपतिषु बुक्कराजः (प्रथमः) वि० सं० १४०१ वर्षादारभ्य १४३६ वर्ष (१३४४ ईशवीयवर्षादारभ्य १३७६ वर्ष) यावत विजयनगर-सिंहासनमलञ्चकार । तत्सूनुर्हरिहर-महाराजश्च स्वपितुर्निधनानन्तरं साम्राज्यश्रियमलभत । अशिक्षच्च १४३६ वै० (१३७६ ई०) वर्षादारभ्य १४५६ वि० (१३६६ ई०) वर्षपर्यन्तं विंशतिं वर्षाणि यावत् । १३६२ वि० (१३३५ ई०) वर्षे विजयनगरस्य स्थापना माधवाचार्यस्यादेशमनुसृत्य श्रीमता हरिहर-

(प्रथम)महाराजेन विहितेति वदन्ति इतिहासविदः। अतः बुक्कहरिहरयोः प्रधानामात्यस्य श्रीमत्सायणस्य आविर्भावकालः पञ्चदशशतकस्य प्रथमार्द्धे समभवदिति नास्त्यत्र निर्विवादे विषये सन्देहस्य कणिकापि काऽपि। १४४४ वैक्रमे संवत्सरे (१३८७ ईशवीये) सायणार्यो दिवं जगामेति कापि जनश्रुतिरपि श्रूयते।

चरित्रम्

सायणाचार्यस्य चरित्रमुद्दिश्य स्तोकमपि वर्णनं साम्प्रतं साम्प्रतं भाति। तच्चरित्रपर्यालोचनं कस्य नास्ति विस्मयकरम्। क सा सततशास्त्राभ्यासजनिता ज्ञानपरिपाकसहजा वैदिकतत्त्वमीमांसा, क च सा लौकिकव्यवहारनिरीक्षणसमुत्पन्ना राज्यकार्यभारक्षमा राजनीतिनिपुणता। उभयोरस्मिन् विद्वज्जने सामानाधिकरण्यं साक्षात्कृत्य न कस्य मानसं विस्मयोल्लासबहुलां वृत्तिमातनुते। व्यवहारपरमार्थयोरेकाश्रयलाभो नाम नूनं दुर्लभ इव दृश्यते जगति। परन्तु सायणार्ये यादृशी परमार्थविषये जागरूकता नेत्रगोचरीक्रियते, तादृश्येव लौकिकव्यवहारेऽपि चेतश्चमत्कारिणी चतुरता चक्षुर्विषयीक्रियते। वेदभाष्यप्रणेतुः सायणाचार्यस्य ज्ञानगरिमा नूनं सहजा, परन्तु विपुलवाजिगजसङ्कुले समराङ्गणेऽपि अरातिव्रातविजयस्तस्य कस्य विस्मयावहो नास्ति।

प्रथमं सायणो विजयनगरसाम्राज्यस्य पूर्वविभागस्थे साम्प्रतं नल्लोरेतिनाम्ना ख्याते प्रदेशे शासनं कुर्वतो महाराजहरिहरानुजस्य कम्पमहीपतेरमात्यपदमलमकार्षीत्। दिवंगते तस्मिन् राजनि तत्सूनुः सङ्गमभूपालो बालतयाऽनधिगतशास्त्रतया च राज्यकार्योद्वहने नितरामक्षमो बभूव। अतः सायणाचार्य एव सङ्गमभूपालस्य कृते निखिलं राज्यभारं वोढुं स्वीचकार। अध्यापयामास च पितृविहीनं सङ्गमनरेन्द्रं राजनीत्याद्युपयोगिनीः सकला विद्याः। विततमपि राज्यं सायणः सम्यक्तया अशात्। समराङ्गणेऽपि स्वबाहुबलपराक्रमं वैरिणां शिरश्छेदेन प्रकटीचकार। प्रान्तस्थान् देशांश्च बहून् जिगाय। चम्पनामानं चोलराजं विजित्य दिक्षु स्वीयां शुभ्रां कीर्तिं विस्तारयामास। 'गरुड़नगरा'भिधानं नगरं सङ्गमनरेन्द्रेण साकमाक्रम्य तन्नगराधिपं जित्वा स्वपादानतमूर्धानं व्यदधात् सायणाचार्य इत्यपि शिलालेखस्थप्रशस्तेरवगम्यते। सर्वमेतत् वृत्तान्तजातं 'अलङ्कारसुधानिधि'निरीक्षकाणां विदुषां सद्य एव स्फुरिष्यतीति मत्वा केचनाऽऽवश्यकास्तत्रत्याः श्लोकाः प्रमाणतयाऽत्र समुद्ध्रियन्ते—

जगद्वीरस्य जागर्ति कृपाणः सायणप्रभोः ।
किमित्येते वृथाटोपा गर्जन्ति परिपन्थिनः ॥

× × ×

अमुं शमितशात्रवस्थिरभुजावलेपोदयं
समीक्ष्य युधि सायणं समधिको भवेद्विस्मयः ।
नखाग्रहतवैरिणो नरहरेर्हरस्याथवा
नवाम्बुजदलोल्लसन्नयनमात्रदग्धद्विषः ॥

× × ×

समरे समस्तसैन्यं सायण ! तव बिम्बितं वहन् खड्गः ।
क्रीडति कैटभरिपुरिव बिभ्रत् क्रोडे जगत्रयं जलधौ ॥

× × ×

दिष्ट्या दैष्टिकभावसंभृतमहासम्पद्विशेषोदयं
जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशाः प्रत्यागतः सायणः ।

सायणाचार्यविहितसुशासनसम्भूतस्य सार्वत्रिकस्य वैभवस्य निदर्शकोऽयं श्लोको नैवं विस्मरणीयो विद्वज्जनैः—

सत्यं महीं भवति शासति सायणार्ये
सम्प्राप्तभोगसुखिनः सकलाश्च लोकाः ।

अथ राज्यभारवहनक्षमे सङ्गमभूमिपतौ राज्यधुरं निपुणमारोप्य सायणो ज्यायसा भ्रात्रा माधवाचार्येण सह बुक्कनरेन्द्रस्य मन्त्रिपदमधिकृतवान् । अनन्तरं तत्प्रोत्साहनैः समुत्साहितो वेदानां भाष्याण्यरीरचत । बुक्कस्य निधनानन्तरं तत्सूनोः हरिहरमहाराजस्यापि कतिचित् समा अमात्यपदवीमभजत । हरिहरनिदेशं प्राप्य अथर्ववेदशतपथब्राह्मणादीनाञ्च व्याख्यानि निबबन्ध । तद्राज्यकाले एव १४४४ वै० (१३८७ ईशवीये) वर्षे सायणार्यः संस्मरणीययशाः संजातः ।

ग्रन्थाः

सायणाचार्यो बहून् ग्रन्थान् रचयामास । तेषां शीर्षण्यस्थानं वेदभाष्याणि भजन्ते । अन्येऽपि ग्रन्थास्तत्तच्छास्त्रविषयेऽत्युपकारकाः सन्तीति ध्रुवं तदालोचनया प्रतीयते । ते च सर्वे विरचनक्रमेणाधो निर्दिश्यन्ते—

(१) **सुभाषितसुधानिधिः**—नीतिवाक्यामृतानां सरसः सञ्चयः। **कम्प**-महीपते राज्यकाले सायणेन विरचितोऽयं ग्रन्थस्तद्ग्रन्थेषु विरचनक्रमेण प्राथम्यं भजते।

(२) **प्रायश्चित्तसुधानिधिः**—कर्मविपाकापरनामधेयोऽयं प्रायश्चित्तप्रति-पादनपरो ग्रन्थो धर्मशास्त्राभ्यासिनां भृशमुपकारमावहतीत्यस्माकं विश्वासः।

(३) **अलङ्कारसुधानिधिः**—विचित्र एव काव्यालङ्कारप्रतिपादनपरोऽयं सायणनिर्मितो ग्रन्थः। दुर्भाग्यतया कृत्स्नो ग्रन्थो नाद्यापि कुत्रचित् समुप-लभ्यते। अस्मिन् दश उन्मेषा विलसन्तीति श्रूयते। आर नरसिंहाचार्यमहो-दयस्य सविधे उन्मेषत्रयात्मक एवापूर्णो ग्रन्थो वर्तते। अत्रत्यानि सर्वाण्यु-दाहरणान्यलङ्काराणां सायणाचार्यस्य जीवनवृत्तमवलम्बन्ते इति इतिहास-ज्ञानां परमं प्रमोदास्पदम्। बह्वलङ्कारग्रन्थेषु कवेराश्रयदातुरेव जीवनवृत्तानु-बन्धीनि श्लोकजातानि दृष्टान्तत्वेन समुपन्यस्तान्युपलभ्यन्ते। अत्र तु कवे-रेवेति भूयान् विशेषः।

(४) **धातुवृत्तिः**—पाणिनीयमतमनुसृत्य विरचितो धातुविषयकोऽति-प्रामाणिकोऽयं ग्रन्थः सर्वत्र विद्वत्समाजे जागर्ति। लोके इयं 'माधवीया धातु-वृत्तिः' इति नाम्ना विख्याता वर्तते, परन्तु सायणाचार्य एवास्या रचयिता न माधवाचार्य इति ग्रन्थस्योपक्रमे स्फुटमेव[1]। त्रयोऽप्येते ग्रन्थाः कम्पराज-सूनोः सङ्गमनरेन्द्रस्य राज्यकाले विरचिता बभूवुरिति तत्तद्ग्रन्थपुष्पिकाभ्यो ध्रुवमवगम्यते।

(५) **पुरुषार्थसुधानिधिः**—पुरुषार्थोपयोगिनां पुराणस्थानां व्यास-वाक्यानां सुललितोऽयं संग्रहो बुक्कमहीपतेर्निर्देशमनुसृत्य सायणार्येण निर्मितः।

(६) **वेदभाष्याणि**—एतेषां विस्तरेण वर्णनमग्रे भविष्यति।

(७) **आयुर्वेदसुधानिधिः**—आयुर्वेदसिद्धान्तनिदर्शनपरो ग्रन्थ एषोऽ-लङ्कारसुधानिधावपि नाम्ना निर्दिष्टो वर्तते।

(८) **यज्ञतन्त्रसुधानिधिः**—यागानुष्ठानविधिरस्य ग्रन्थस्य विषयः। एष सायणाचार्यस्य रचनासु चरमो ग्रन्थ इति अनुमीयते। अस्य रचना हरिहर-(द्वितीय)महाराजाधिराजस्य शासनसमये सञ्जातेति तत्पुष्पिकातो विद्वद्भि-रुन्नेयम्[2]।

---

१. तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनिषिणा। आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते॥

२. इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरहरिहरमहाराजसकलसाम्राज्यधुरन्धरस्य वैदिकमार्ग-स्थापनाचार्यस्य सायणाचार्यस्य कृतौ यज्ञतन्त्रसुधानिधौ……।

सायणनिर्मितानां बहूनां ग्रन्थानां पुष्पिकासु ग्रन्थाभिधानेभ्यः प्राक् 'माधवीये'ति पदं समुपन्यस्तं समुपलभ्यते। तथा च सायणरचिता धातुवृत्तिः माधवीयेत्याख्यया तत्पुस्तकेऽपि व्याहृता लोकेऽपि सर्वत्र विख्याता च दृश्यते। वेदार्थप्रकाशाभिधानमृग्वेदसंहिताभाष्यमपि माधवीयेति नाम्ना व्यपदिष्टमुपलभ्यते प्रत्यध्यायं पुष्पिकायाम्[१]। को नु खलु हेतुरस्य स्यात्? सायणेन विरचितानां ग्रन्थानां माधवीयेति समाख्यया सर्वत्र प्रचारे किं ग्रन्थकाराभिमतं समुचितं कारणं भवेत्? माधवेनैव विरचिता इमे ग्रन्था इति केचित्। माधवसायणाभ्यामुभाभ्यामपि विरचिता इत्यन्ये। परन्तु अनुपपत्तिहेतोर्नास्ति कस्मिन्नपि मते बद्धमूलाऽऽस्थाऽस्माकम्। तदा किमत्र उपपन्नं कारणं भविष्यति? वस्तुतस्तु सायणाचार्य एवैषां कर्ता इत्यत्र नास्ति कोऽपि सन्देहलेशस्तत्तद्ग्रन्थस्यारम्भावसानपरीक्षकाणां विदुषाम्। माधवेन प्रोत्साहित एव सायणो ग्रन्थानिमान् अरीरचत्। बुक्कमहीपतिना माधवाचार्य एव वेदभाष्याणामन्येषां च ग्रन्थानां निर्मितौ प्रार्थित आसीत् परन्तु माधवो नैव तत्प्रार्थनामुररीचकार। वेदभाष्यरचनार्थं प्रार्थितो माधवः राजानं प्रत्यभाषत–कृतिनामाद्यो ममानुजः सायणाचार्यो निखिलं शास्त्राणां वेत्ति, सर्वं जानाति। अतस्तमेव वेदानां व्याख्यातृत्वे नियोजयतु भवान्। माधवेनैव प्रत्युक्तो महीपतिः सायणाचार्यं वेदानां व्याख्याने नियुक्तवान्। अतोग्रन्थानाममीषां रचनायां माधव एव परमो हेतुः तस्य प्रोत्साहनैव आद्यं कारणम्। अतस्तदुपकारभाराक्रान्तहृदयो यदीमान् ग्रन्थान् माधवीयेति नाम्ना व्यपदिदेश सायणाचार्यः, तर्हि नितान्तमौचित्यमेव साक्षात्कुर्मः। न काचन औचित्यहानिरस्मिन् विषयेऽस्माकं मतेन परिपतति। अतः सायणेन विरचितानामपि पुस्तकानां माधवीयेति व्यपदेशो नितरां समुचित एवेति पश्यामः। तदत्र प्रमाणतया केचन ग्रन्थस्था एव श्लोकाः समुपन्यस्यन्ते।

पुरुषार्थसुधानिधौ—

तं सर्वविद्यानिलयं तत्त्वविद् बुक्कभूपतिः।
सत्कथाकौतुकी हर्षादपृच्छत् राजशेखरम्॥
श्रुतानि त्वन्मुखादेव शास्त्राणि विविधानि च।
पुराणोपपुराणानि भारतं च महामते॥

---

१. इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वर-वैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः॥

सर्वाण्येतानि विप्रेन्द्र गहनान्यल्पमेधसाम् ।
तस्मादाख्यानरूपाणि सुखोपायानि सुव्रत ।
पुरुषार्थोपयोगीनि व्यासवाक्यानि मे वद ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा युक्तार्थं बुक्कभूपतेः ।
प्रशस्य तं मुदा युक्तो माधवः प्रत्यभाषत ॥
अयं हि कृतिनामाद्यः सायणार्यो ममानुजः ।
पुराणोपपुराणेषु पुरुषार्थोपयोगिनीः ।
उपदिष्टा मया राजन् कथास्ते कथयिष्यति ॥
इति प्रसाद्य राजानं सायणार्यमुदैक्षत ॥
सायणार्योऽग्रजेनोक्तः प्राह बुक्कमहीपतिम् ।
साधु साधु महाप्राज्ञ ! बुद्धिस्ते धर्मदर्शिनी ॥
वदामि व्यासवाक्यानि लोकानां हितकाम्यया ।

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये—

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधत् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
स प्राह नृपतिं राजन् सायणार्यो ममानुजः ।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः ।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसङ्ग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥

वेदभाष्याणां पौर्वापर्यपरीक्षणम्

सायणनिर्मितानां संहितापञ्चकभाष्याणां पौर्वापर्यं साम्प्रतं परीक्षयामः । सायणः कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताध्यायी ब्राह्मणो बभूव । अतः स्वीयत्वादतिपरिचितत्वाच्च तैत्तिरीयसंहितायाः प्रथमं व्याख्यानं युज्यत एव । अन्योऽपि हेतुरत्र विलसति । अभ्यर्हितत्वेऽपि ऋग्वेदस्य 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः' इति मन्त्रेण, 'यजुर्यजतेः' इति यास्ककृतनिर्वचनेन च अध्वर्युवेदस्य

यागनिष्पादकत्वं द्योत्यते। 'एवं सति अध्वर्युसंबन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशास्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्यते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्'[1] यजुर्वेदोऽपि कृष्ण-शुक्लभेदेन द्विविधिम्। तत्र कृष्णयजुर्वेदस्य बह्वीष्वपि शाखासु तैत्तिरीयैव शाखा स्वीया ग्रन्थकर्तुरभूत्। अतः स्वकीयत्वेन तस्याः प्रथमतो विरचितं सायणेन व्याख्यानमिति हेतोस्तैत्तिरीयसंहिताभाष्यस्यैव भूमिका प्रथमतो-ऽस्माभिर्ग्रन्थेऽस्मिन् निबद्धा।

अस्या अनन्तरं ऋग्वेदस्य व्याख्यानं विहितं ग्रन्थकर्त्रा। यजुर्वेदभाष्यात् ऋग्भाष्यस्याऽऽनन्तर्यं स्वयमेव सायणो निगदति—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

यजुर्वेदेन निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशास्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण ऋक्-साम-वेदद्वयेन पूर्यते इति पूर्वमेवोक्तम्। तत्र सामानि ऋगा-श्रितानि भवन्ति। अतः साम्नामृगाश्रितत्वात् उभयोर्मध्ये प्रथमतः ऋग्व्या-ख्यानं युक्तमिति तैत्तिरीयव्याख्यानान्तरमृग्व्याख्यानं सायणोऽरीरचत्। ऋग्व्याख्यानात्परं तदाश्रितं सामवेदं व्याकरोत् सायणः। तथा च साम-भाष्यावतरणिकायां[2]—

यज्ञं यजुभिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः।
व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम्॥ १०॥
साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याऽथ वर्ण्यते।
अनुतिष्ठासुजिज्ञासावशाद् व्याख्याक्रमो ह्ययम्॥ ११॥

सामवेदभाष्यादनन्तरं काण्वसंहिताऽनुक्रमेण व्याख्याता। कृष्णयजुर्वेदः प्रागेव व्याख्यातः। अवशिष्टस्य शुक्लयजुर्वेदस्य समायातो व्याख्यानसमयः। तस्य संहिताद्वयी विलसति—एका माध्यन्दिनी संहिता, अपरा काण्वसंहिता। माध्यन्दिनीं संहितां तु सायणात् वर्षशतत्रयं प्रागेव भोजे राज्यं प्रशासति आनन्दपुरवास्तव्यो वेदार्थविवृतिविचक्षण आचार्य उव्वटो निपुणं व्यकार्षीत्[3]।

१. दृश्यतां ग्रन्थस्यास्य १४ पृष्ठम्।

२. ग्रन्थस्यास्य ६३ पृष्ठे।

३. आनन्दपुर-वास्तव्य-वज्रटाख्यस्य सूनुना। मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥

अतः परिशेषात् काण्वसंहितायाः व्याख्यानं यजुर्वेदादिसंहिताव्याख्यानात् परं सायणो निर्मितवान्[1]।

अथर्ववेदभाष्यस्य तु सर्वेषां संहिताभाष्याणां समवसाने निर्मितिर्विहिता ग्रन्थकर्त्रेति सायणस्य वचनमिदं[2] प्रमाणत्वेन समुपन्यस्य परीक्षादस्मात् विरमामः।

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ॥ १० ॥

ब्राह्मणानां भाष्याणि

न खलु संहिताभाष्याण्येव केवलानि विरचितानि वेदार्थप्रतिपादनपरेण श्रीमता सायणार्येण, यावत् ब्राह्मणानामपि केषांचित् प्रसिद्धानां व्याख्यानान्यपि निबद्धानि। तत्र प्रथमं भाष्यकारस्तैत्तिरीयसंहिताया व्याख्यानावसाने तत्सम्बद्धं तैत्तिरीयब्राह्मणं तैत्तिरीयमारण्यकं च व्याख्यातवान्। ऋग्वेद-व्याख्यानात् पूर्वमेवानयोर्व्याख्यानमरीरचदित्यस्माकं विश्वासः। स्वयमेव सायणस्तैत्तिरीयसंहिताव्याख्यानाऽऽनन्तर्यमनयोः प्रदर्शयति—

व्याख्याता सुखबोधाय तैत्तिरीयकसंहिता।
तद्ब्राह्मणं व्याकरिष्ये सुखेनार्थविबुद्धये ॥

× × ×

व्याख्याता सुखबोधार्थं तैत्तिरीयकसंहिता।
तद्ब्राह्मणं च व्याख्यातं शिष्टमारण्यकं ततः ॥

× × ×

ऋग्भाष्यानन्तरमेव तदीयं ब्राह्मणमैतरेयं ग्रन्थकृत् विवृतवान्। तथा च सामभाष्यात् परं क्रमौचित्यात् तदीयानां सर्वेषामेव ब्राह्मणानां प्राप्तावसरतया व्याख्यानं निरमिमीत माधवानुजः सायणः। अष्टौ ब्राह्मणाः सामवेदस्येति विदितचरमेव वैदिकानाम्। तेष्वष्टमस्य ब्राह्मणस्य वंशाख्यस्य व्याख्यानोपक्रमे वेदत्रयभाष्याऽऽनन्तर्यं तेषां ग्रन्थकृदेव स्वीयैरक्षरैः प्रतिपादयति[3]।

---

१. ग्रन्थस्य १०३ पृष्ठं द्रष्टव्यम्।

२. अस्य ग्रन्थस्य ११९ पृष्ठे।

३. व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदोऽपि संहिता।
व्याख्याता ब्राह्मणस्याथ व्याख्यानं सम्प्रवर्तते ॥

सामब्राह्मणेष्वपि व्याख्याक्रमः प्रकारमेतमनुसरति । प्रथमं (१) पञ्चविंशत्यपरनामधेयस्य ताण्ड्यब्राह्मणस्य व्याख्यानं, ततः (२) षड्विंशस्य, (३) सामविधानस्य, (४) आर्षेयस्य, (५) देवताध्यायस्य, (६) उपनिषदाख्यस्य, (७) संहितोपनिषदिति ख्यातस्य ब्राह्मणस्य स्वल्पाक्षराणि भाष्याणि अनेनैव क्रमेण निर्मितानि सायणाचार्यैः । अन्ते च (८) वंशब्राह्मणस्यापि विरचितं व्याख्यानं जगतामुपकाराय[1] । सर्वाण्येवैतानि, बुक्कमहीपतौ शासति महीं, सायणाचार्येण निर्मितिविषयं नीतानीति तत्तत्पुष्पिकाभ्यः स्फुटमेव प्रतीयते ।

समवसाने च सर्वेषां ब्राह्मणव्याख्यानानां शुक्लयजुर्वेदीयस्य शतपथब्राह्मणस्य व्याख्यामपि बुक्कमहीपतिसूनोर्वैदिकमार्गप्रवर्तकस्य श्रीमहाराजहरिहरस्यानुज्ञामनुसृत्य सायणार्यो व्यरीरचदिति शतपथभाष्यस्योपोद्घात् निपुणमवगन्तुं शक्यते । इत्थमिमानि वेदानां रहस्यप्रतिपादकानि ग्रन्थरत्नानि जगतां कल्याणाय वैदिकधर्मस्याभ्युदयाय च श्रीमता सायणाचार्येण प्रणीतानीत्यहो तस्य लोकोपकारपरं चेतः ! गम्भीरार्थप्रकटनपरं च प्रकृष्टं पाण्डित्यम् ।

वेदभाष्याणामेककर्तृत्वम्

सं० १४४३ (ई० १३८६) वैक्रमाब्दे विरचिते एकस्मिन् शिलालेखे दृश्यते यत् श्रीमता वैदिकमार्गप्रतिष्ठापकेन धर्मब्रह्माध्वन्येन महाराजाधिराज-श्रीहरिहरेण विद्यारण्य-श्रीपादस्वामिनां समक्षमेवाग्रहारदानादिना पुरस्कृताः केऽपि वाजपेयाजी नारायणः, सोमयाजी नरहरिः, दीक्षितः पण्डरिश्चेति त्रयो ब्राह्मणाः चतुर्वेदभाष्यप्रवर्तका इत्यभिहिताः सन्ति । प्रवर्तकत्वं हि खलु कस्मिंश्चन कार्यविशेषे साहाय्यप्रदानं नाम । अतो भाष्यप्रवर्तका एते त्रयोऽपि विद्वद्वराः सायणाचार्यस्य वेदभाष्यप्रणयने सहायका एवाभवन्निति शिलालेखप्रामाण्यात् वदतीतिहासपरिशीलनपटुः आर. नरसिंहाचार्यमहाशयः[2] । अन्यच्च ऋग्वेदभाष्ये एकस्यैव शब्दस्य विभिन्नाष्टकभाष्येषु समुपलभ्यमानस्य दृश्यते मिथो विरुद्धः कोऽपि भिन्नोऽर्थः । अभिन्नत्वेनाभिमतस्यापि मन्त्रस्य

---

१. प्रौढानि ब्राह्मणान्यादौ सप्त व्याख्याय चान्तिमम् ।
वंशाख्यं ब्राह्मणं विद्वान् सायणो व्याचिकीर्षति ॥

२. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (व० १९१६) १९ पृष्ठ

गोचरीक्रियते विभिन्नं विपर्ययबहुलं च समुपनिर्दिष्टं तात्पर्यम्। नहि तत् भाष्यकर्तुरेकत्वे सति कदापि सम्भावनामेति। कः खलु सचेतास्तस्यैव शब्दस्य एकस्मिन्नेव ग्रन्थे भिन्नं तात्पर्थं समुल्लिखति। भिन्नकर्तृत्वं हि तत्र समुचितं कारणं भवितुमर्हतीति कतिपयोदाहरणप्रदर्शनपुरःसरं साधयितुं सिद्धान्तमिमं प्रयतते डाक्टर गुणे महोदय.[1] । श्रीसायणाचार्याः विजयनगराधिपमन्त्रिप्रवराः बभूवुरिति पूर्वमेवोक्तमस्माभिः । अतः विपुलभाष्यविरचनकर्मणि यदि केचित् पण्डिताः सहायकत्वेन नियुक्ता अभूवन् तर्हि न काप्यसम्भवनाऽस्माभिः प्रत्यक्षीक्रियते। भवतु नाम केषाञ्चिदन्येषामपि तत्र महत्त्वपूर्णे कर्मणि प्रवर्तना, तेनाऽस्माकं न कापि सिद्धान्तहानिर्भवितुमर्हति । निखिलान्यपि भाष्याण्यभिन्नैकतात्पर्येण समुचितैकार्थेन चानुस्यूतानि विद्यन्ते इति विमर्शकानां नो परोक्षमिति निर्भयं निगदितुं पारयामो वयम्। अत एनेषां सर्वेषां संहिताभाष्याणां ब्राह्मणव्याख्यानानां च कर्तृत्वमेकस्मिन्नेव निखिलशास्त्रसिद्धान्तपारंगमे तत्रभवति श्रीसायणाचार्ये निपुणं पर्यवस्यतीति वदन्तो वयं न कामपि विप्रतिपत्तिं साक्षात्कुर्मः।



वेदानामध्ययनप्रकारः

अथ श्रीसायणाचार्याणां जीवनवृत्तं ग्रन्थविरचनं च सप्रमाणं विस्तरशो निरूप्य तद्विरचितानां व्याख्यानानां साम्प्रतं महात्म्यपर्यालोकनं वयं सुसाम्प्रतं प्रतीमः। तदधुना भारते वर्षे त्रिविधरूपेण वेदानां पठनं पाठनं च प्रवर्तते। प्रथमे वेदानामध्येतारस्ते सन्ति, ये खलु प्राचीनपरम्परानिर्वाहका वैदिका इत्यधुना लोकैरभिधीयन्ते। एते खलु विपुलायासेन समग्रां स्वीयां संहितां स्वकण्ठस्थितां विधाय, वैदिकमन्त्राणां शुद्धोच्चारणं ज्ञात्वा, वेदानां प्रचुरप्रचाराय सर्वदा प्रयतन्ते इति ते सर्वेषां वेदानुशीलनजुषां पुरुषाणां धन्यवादानर्हन्ति। तेषामेव मुखे भगवन्तो वेदास्तिष्ठन्ति, इति कथने न विद्यते काचन विप्रतिपत्तिः। विहाय सर्वाणि कार्याणि, उररीकृत्य विपुलं सर्वाश्चर्यकरं परिश्रमं, स्वीकृत्य च निष्किञ्चनां काञ्चन माधुकरीं वृत्तिं, समधिकेन मनोयोगेन, आदरणीयेन चानुरागेण एते सततं वेदानधीयते अध्यापयन्ति च निजान्

१. आशुतोष जुबिली कमेमोरेशन वाल्यूम (अन्तिम भाग) पृ० ४६७–४७६।

विद्यार्थिन इति कः खलु अमीषामुपकारभारं निपुणं निगदितुं शक्नुयात् । अहो न किमिदमाश्चर्यकरं यत् यथा वेदाः पूर्वैः ऋषिभिः सारस्वततीरमुपाश्रयद्भि- रुदात्तादिस्वरपरिशुद्धिपूर्वकं निष्कामभावेनाधीयन्ते स्म, तथैव साम्प्रतमपि अकालदावानलवत् प्राचीनशास्त्राध्ययनपद्धतिं दहति वैदेशिके पाश्चात्यशिक्षणो- त्कर्षे, निजं परिचितं धर्मं च त्यजति आङ्ग्लशिक्षामण्डिते भारतीये जने, स्वीयोदरपूरणाय च सकलमपि सदाचारं निखिलामपि नीतिमुत्क्रम्याचरण- विरहिते प्रजावर्गे, एते एव विपुलं परिश्रमं स्वीकृत्य शुद्धोच्चारणविधिना वेदान- धीयते । एतेषामेव मुखेभ्यः शब्दप्रधानानां वेदानां वास्तविकं परिशुद्धमुच्चारणं श्रोतुं पार्यते । अत एते एव वेदानां संरक्षकाः, अमी एव श्रुतीनां धारकाः साम्प्रतं जगति, इति वदतो नितरां प्रसीदति ममान्तरात्मा । परन्तु इमे वैदिका मन्त्रोच्चारणमात्रपरायणा वेदानां न सन्ति अर्थज्ञा इति नितरां परितापस्थानम् । तैरुच्चार्यमाणा मन्त्राः कमर्थमभिदधति किं रहस्यं वा प्रति- पादयन्ति इति बहुधा न जानन्त्यनेके व्याकरणादिशास्त्रविमुखा वैदिका इति सपरिखेदमावेदयामः ।

वेदानां नव्यार्थमीमांसाप्रकारः

कैरपि समाजविशेषानुरागमादधानैर्वेदानां विधीयतेऽध्ययनं सह परिश्रमेण, साकमायासेन च बहुलेन साम्प्रतं भारतेऽस्मिन् वर्षे । समुचिते मन्त्राणाम- ध्ययने शिथिलादरा अप्यमी वेदार्थपरिशीलने कमपि प्रयत्नमादधानाः सततं दृश्यन्ते । परन्तु नितान्तं तान्तमस्माकं चेतो यदिमेऽन्यमतावलम्बिभिः साकं धार्मिकविवादेष्वेवोपयोगाय कतिपयानां मन्त्राणामेवार्थविचारणपरा बहुधाः साक्षात् क्रियन्ते । तानपि च प्रायशोऽविचारितोच्चारणविधिना मन्त्रोच्चारणं कुर्वन्तः सततं कदर्थयन्ति । अतो निखिलमपि तत्समाजकार्यं जातं वेदायत्त- मेवेति वदन्तोऽप्येते न खलु वेदानां समुचितरक्षणाय मन्त्राणां च पारम्पर्य- विधया परिशुद्धोच्चारणे बद्धपरिकरा अवलोक्यन्ते । एभिर्विद्वज्जनैरयमर्थविषये विद्यते प्रवर्तिता एका रीतिरपि या तद्भक्तैः सादरं स्वीकृता समुपलभ्यते । 'आध्यात्मिकपक्षमुररीकृत्यैव वेदानामर्थविचारः समुचितः' इति तदीयं मतम् । मतमिदं नाऽपूर्वम् । पूर्वैरपि निरुक्तकारादिभिः स्वस्वग्रन्थेषु मतस्यास्य प्रति- पादनात् । यास्केन स्फुटमेव वेदार्थपरिशीलनविधौ प्रतिपादिते मतत्रये आध्या- त्मिकपक्षोऽन्यतरः । आरण्यकोपनिषदादिषु आध्यात्मिकं पक्षमुररीकृत्य मन्त्राणां केषांचित् व्याख्यानं समुपलभ्यते एव, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थानां संहितावद् प्रामा-

ण्यमनङ्गीकुर्वन्तस्ते न खलु परिशीलयन्ति तद्ब्राह्मणग्रन्थेषूपलभ्यमानामाध्यात्मिकीं सरणिं गूढार्थसम्पन्नानां वेदानां समुचिते व्याख्याने। रहस्यचयमण्डिता भगवती श्रुतिरनयैव सरण्या स्वार्थं प्रकाशयति शास्त्रसिद्धान्तजुषां विदुषां नान्यथा कयाचनेति कथनमपि नैव समीचीनं, विविधार्थप्रतिपादकत्वात् तस्याः। अपरं चामी वेदेषु नवीनानामपि आधुनिकैः पाश्चात्यविज्ञानवेदिभिः प्राकाश्यं नीतानामाविष्काराणां धूम्रयान-वायुयान-तडिच्छकटस्वनग्राह्यादीनां नैव कल्पितां सम्भावनां, अपितु वास्तविकीं सत्तां वेदे मन्यन्ते। सर्वेषामाविष्कृतानां आविष्करिष्यमाणानां च विज्ञानतत्त्वानामाकरो वेद एवेति तेषामभिमतं मतमिवावलोक्यते। एतत्सिद्धान्तमनुसरद्भिस्तैस्तथैव वेदा व्याख्याता यथा वैज्ञानिकानामाविष्काराणां तत्र स्थितिः कयापि रीत्या प्रतिपाद्येत। परन्तु एषोऽपि सिद्धान्तो नैव विद्वज्जनमनोरमः। रीतिरप्येषा नैव हृद्या वेदशास्त्ररहस्यवेदिनां मनीषिणाम्। इत्थमेतत्प्रदर्शितदिशा नैव श्रुतीनां सारभूतो निगूढतत्त्वप्रतिपादकोऽर्थो ज्ञातुं पार्यते कात्स्न्येन केनापि। एभिः प्रतिपादिता मन्त्रार्था आध्यात्मिकाभासपदवीमेव भजन्ते। अतो वेदार्थतत्त्वजिज्ञासूनामुपकाराभावादुपेक्ष्यैव वेदार्थप्रतिपादनविधौ रीतिरेषामिति विदुषां विश्वासः।

पाश्चात्यानां वेदार्थानुशीलनम्

साम्प्रतं भारतवर्षाद् बहिरपि पाश्चात्येषु देशेषु अमेरिकायूरोपादिषु देववाणीशिक्षणपराणां विदुषां मध्ये श्रूयते वेदानां भूयसा प्रचार इति। प्राचीनधर्मतत्त्वजिज्ञासयाऽऽपूर्यमाणान्तःकरणास्ते स्पृहयालवो दृश्यन्ते वेदानां सिद्धान्तपरिज्ञानाय। कौतुकाक्रान्तचेतसोऽपि केचन विपश्चितो वेदानधीयते अध्यापयन्ति च स्वदेशीयान् वैदेशिकाँश्च छात्रान्। शर्मण्यदेशे वेदानामित्थं गोचरीक्रियते भूयान् अध्ययनक्रमः, लक्ष्यीक्रियते च प्राकाश्यं नीतो विपुलो वेदसम्बद्धो ग्रन्थनिचयः। एतेषां वैदेशिकानामवलोक्य भारतीयानां भाषाविषये धर्मविषये च नितान्तं प्रगाढमनुरागमाश्चर्यचकितैरेव भूयतेऽस्माभिः। क्व सन्तीमे दूरतरदेशवासिनोऽपि वेदचिन्तनपराः, क्व च वयमार्यावर्तीयाः स्वधर्मस्पृहयालवोऽपि संस्कृतभाषाभिमानवन्तोऽपि वेदार्थानुशीलनविमुखाः। वेदानुशीलनं हि नाम भारतीयानां प्रथमं कर्तव्यम्। परन्तु तदुपेक्षावद्भिः स्वधर्मग्रन्थसंरक्षणविधौ शिथिलादरैरस्माभिः कथं स्वदेशस्य, स्वभाषायाः, स्वधर्मस्य च वास्तविकी अभ्युन्नतिः करणीया स्यादिति चिन्तनं नितरां दुनोति सचेतसां चिन्ताक्रान्तानि चेतांसि। अस्तु।

एते पाश्चात्याः 'मन्त्रो हीनः स्वरतो: वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह' इति स्वरमाहात्म्यावगच्छन्तोऽपि वेदमन्त्राणां शब्दप्राधान्यमवजानन्तः स्वीयेन विकृतोच्चारणेन तानहो कदर्थयन्ति। अन्यैव काचन रीतिः वेदानामर्थविचारणविषये तैरुररीक्रियते यां 'हिस्टारिकल मेथड' (Historical Method) ऐतिहासिकपद्धतीति नाम्ना तदनुयायिनो निपुणं व्यपदिशन्ति। पारसीकमिस्रादिदेशानां धर्मपर्यालोचनया, भाषाविज्ञानस्य पारस्परिकतारतम्यपरीक्षया वेदानामर्थः समुल्लसति इति पाश्चात्यानां विश्वासः। एनामेवावलम्ब्य रीतिं ते सततं वेदानामर्थप्रतिपादनपरा विलोक्यन्ते। न जाने केन हेतुना श्रीमतां सायणाचार्याणां भाष्यानुशीलनवशात् वेदार्थे कथमपि लब्धप्रवेशा अपीमे गर्हयन्ति तत्रभवतो भाष्यकारान्, अवगणयन्ति च तद्भाष्यप्रतिपादितानर्थजातान् वेदमन्त्राणाम्। अपरं च तेषामपि पाश्चात्यानां वेदार्थानुध्याननिरतानां नैव वैदिकशब्दानामर्थविषये ऐक्यमतमुपगच्छामः यदि शर्मण्यदेशीयो लुड्विग् महोदयो मन्त्रस्य कस्यचित् कमप्यर्थं वदति, तर्हि तद्देशीय एव ग्रासमानः अन्यमेवाऽपूर्वमर्थं प्रतिपादयति। इत्थं मोक्षमूलरभट्टमुग्धानलाचार्योतिनाम्नां तद्देशीयानां पण्डितानां वेदस्यार्थपरीक्षणं नैव जातुचिदेकरूपतां धत्ते। एकस्यैव शब्दस्य विभिन्नार्थप्रतिपादनपरा अप्येते स्थानमाहात्म्यात् सन्दर्भानुरोधाच्च भिन्नमर्थं प्रतिपादयतः श्रीमतो भाष्यकारान् कथं दूषयन्तीति निपुणं निभालयन्तोऽपि वयं नैव तत्र वाचोयुक्तौ किमप्यौचित्यं हेतुं वा स्फुटतरं साक्षात्कुर्मः। वैदिकग्रन्थानां प्रकाशने तेषामुत्साहं परिश्रमं च प्रशंसन्तोऽपि, वेदसिद्धान्तविषये तेषामनास्थाकरीं व्याख्यापद्धतिं चावलोकयन्तो, वयं दूयमानेन चेतसा, व्यथमानेन हृदयेन, सविषादमावेदयामो यदेभिः भारतीयसंस्कृतेः परमसुहृद्भिर्वेदानामभ्युदयस्थाने महानेव कोऽपि वेदविप्लवः साम्प्रतं प्रवर्तितो दृश्यतेऽरुन्तुदो भारतीयानां वेदाभिमानिनां पण्डितानाम्। प्रायः सर्वेऽपि पाश्चात्यशिक्षामण्डिता भारतीया एतेषामेव स्वगुरूणां पाश्चात्यानां सरणिमनुसरन्तोऽवलोक्यन्ते इति तु नितरां परिखेदस्थानम्। अहो अस्माकं मानसिकं दैन्यम्। अहो अस्माकीना मनसो दास्यवृत्तिः। उपचयं गच्छति च पारस्परिके वेदरहस्यार्थचिन्तनेऽनैकमत्ये, भगवत्याः श्रुतेः भूतार्थपरिज्ञानाय निगूढतत्वावधानाय च कं खलु शरणं व्रजेम, कः खल्वस्माकं परमः आश्रयो भवेत्। को ह्युपायः स्यात् किमालम्बनञ्च भवेत् यत् समाश्रित्य वयं अनायासेन लघुनोपायेन वेदार्थाम्बुनिधिं सुखेन सन्तरेम। सर्वत्रोपायार्थं निपुणं निभालयतामस्माकं पुरतः केवलो ह्युपायो विलसति। स तु तत्रभवतां श्री-

सायणाचार्याणां वेदभाष्यमेव। विहाय तन्नैव कश्चिदन्यः समाश्रयोऽस्माकं दृष्टिपथमवतरति।

वेदत्वविचारः

अथ स्वतःप्रामाण्येन विलसन्तो भगवन्तो वेदाः सन्ति भारतीयानामस्माकं धर्मस्य सर्वस्वभूता इति केषां नापरोक्षं विदुषाम्। तत्र वेदत्वं नाम शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वमिति तत्वचिन्तामण्यादिषु न्यायविदो वदन्ति। 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' इति तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायां सायणाचार्याः समामनन्ति। वेदत्वं खलु अलौकिकोपायबोधकत्वं नाम। ज्योतिष्टोमादिरिष्टप्राप्तिहेतुः कलञ्जभक्षणवर्जनादिरनिष्टपरिहारहेतुरित्यर्थः किमनुमानसहस्रेणापि तार्किकशिरोमणिनाप्यवगन्तुं पार्यते? वेदा एवैषां लोकोत्तरोपायानां केवलं बोधकाः। अत एवोक्तमाचार्यैः—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

वेदानां प्राचीनभाष्याणि

इत्थं जगतां कल्याणपरम्परासिद्धये आविर्भूतानामलौकिकोपायप्रतिपादकानां वेदानां सर्वत्र प्रख्यातान्यासन् प्रौढानि व्याख्यानानि प्राचीनकालेऽस्मिन् भारते वर्षे। निगूणार्थानां वैदिकानां शब्दानामेव कृते कैश्चाचार्यैः निबद्धा ग्रन्था निघण्टवो नाम। तेषां व्याख्याभूतं साम्प्रतं पाश्चात्यदेशेषु सविशेषमधीयमानस्य सकलस्य भाषाविज्ञानस्य मूलभूतं ग्रन्थरत्नं महर्षिणा **यास्काचार्येण** प्रणीतं निरुक्ताख्यं वेदस्यार्थविचारणायां प्राधान्यं प्राथम्यं च दधदिवाधुनापि समुपलभ्यमानं विराजतेतराम्। तत्र प्रदर्शिता वेदार्थतत्त्वपरिशीलनपद्धतिरेव ज्यायसीति विषये को नाम विपश्चित् सन्देहदोलायमानमानचेता भवति यास्कनिर्दिष्टां शैलीमनुसृत्यैव भूयसा **स्कन्दस्वाम्यादिभिर**नेकैराचार्यैः **ऋग्वेदस्य**, **उव्वटाचार्या**दिभिः शुक्लयजुर्वेदस्य, **भवस्वामि-गुह**-**वादिभिस्तैत्तिरीयसंहितायाः**, **माधव-भरतस्वाम्यादिभिः** सामवेदस्य च प्रामाणिकानि व्याख्यानानि सायणात् प्रागेव विरचितान्यासन्। एतेषां मध्येऽनेकेषां व्याख्यातॄणां सायणभाष्येषु नामान्येवोपलभ्यन्ते न तद्रचितानि समग्राणि व्याख्यानानि। **स्कन्दस्वामि**रचितं ऋग्वेदभाष्यं **गुणविष्णुना**

निबद्धं कतिपयसामवेदीयमन्त्राणां व्याख्यानमन्यानि च कानिचित् व्याख्यानानि साम्प्रतं मुद्रितानि मुद्र्यमाणानि च सन्ति, परन्तु विरलप्रचाराणि बहूनि नामशेषतां गतानीति निर्विवादम् ।

श्रीमता सायणाचार्येण विरचितं यत् वेदभाष्यं तदेव साम्प्रतमेकं कार्त्स्न्येनोपलभ्यते वेदार्थपरिचयाय जिज्ञासूनाम् । इत्थं वेदमन्त्राणां या खलु आसीत् पारम्पर्येणोपगता व्याख्यानपद्धतिः, तया रीत्यानिर्दिष्टा अर्था वेदभाष्ये एव जागरति । वेदानामर्थनिर्द्धारणे सायणो यास्काचार्यमेव बहुशोऽनुसरति । निरुक्ते निर्दिष्टानि प्रायः सर्वाण्येव व्याख्यानानि स्वभाष्यग्रन्थे नामनिर्देशपूर्वकंसमुद्धरति । एवं नाममात्रमुपगते निखिले वेदव्याख्यानवाङ्मये, सायणीयवेदभाष्यादेव वयं वेदमन्त्राणां तात्त्विकं प्राचीनाचार्याभिमतं च व्याख्यानमवगन्तुं पारयामः इति जागर्त्येव श्रीसायणभाष्याणां किमपि गौरवास्पदं माहात्म्यम्, विद्यते एव वेदानुशीलनवतां कृते तेषां प्रकामं साहाय्यकम् ।

वेदार्थस्यानुशीलनपद्धतिः

वेदानुशीलनं हि नाम भारतीयानां विद्वज्जनानां प्रथमं कर्तव्यम् । वेदानामर्थज्ञानाय सततमेव मनीषिभिर्यतितव्यम् । वेदानां ते एव अर्थाः समुचिताः, ये पूर्वाचार्यकृतां परम्परानुसरन्ति । निरुक्ते परम्परायास्तस्याः स्थितिं वयमवलोकयामः । तत्रत्यानि व्याख्यानानि प्रमाणरूपतां भजन्ते इति निर्विवादम् । तानि खलु व्याख्यानानि न खलु निरुक्तकारप्रदर्शितां काल्पनिकतामेवानुरुन्धन्ति, अपितु तानि ब्राह्मणग्रन्थेष्वेवावलम्बितानि स्वप्रामाण्याय इति तत्तद्ग्रन्थेषु बहुशब्दानामर्थपरीक्षणात् स्फुटं भविष्यति । परम्पराविरहितो वेदार्थो न खलु कदापि विद्वज्जनैरनुसन्धेयः । "नह्यस्माकं वेदः शाकुन्तलं नाम नाटकं, येन तस्य महाबुद्धिमता बलवत्प्रयत्नशालिनापि दिव्यज्ञानं विनैव क्रियमाणं व्याख्यानं विश्वासार्हं स्यात्, प्रवर्तयेद् निवर्तयेद्वा प्रेक्षावतः । धर्माधर्माद्यतीन्द्रियेषु वस्तुषु केवलमार्षं विज्ञानमेव व्याचक्षाणस्य प्रामाण्ये उपयुज्यते, न पुनर्बुद्धिपरिश्रममात्रम्" इति साधु प्रतिपादयन्ति श्रद्धेयाः श्रीबालशास्त्रिचरणाः । अन्यच्च वेदार्थोपबृंहणमितिहासपुराणादीनां साहाय्येनैवौचित्येन कर्तव्यमित्याचार्याणामुपदेशः । तथा च स्मर्यते—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत ।
बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥

सायणभाष्याणां माहात्म्यम्

भारतीयानामितिहासं दूषयन्तः पुराणं चानर्थजल्पितमिति वदन्तः पुरुषा वेदानां कथं तात्त्विकमर्थं निश्चयेनावगन्तुं समर्था भवन्तीति न जानीमो वयम्। सायणाचार्यविरचितेषु भाष्येषु प्राचीनायाः परम्परायाः एव साधु संरक्षणं न केवलं समुपलभामहे, अपि तु पुराणेतिहासानुयायिप्राचीनाचार्यसम्मतं च व्याख्यानं मन्त्राणां निरीक्षामहे।

यथा—

न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दनाः शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः॥

(ऋग्वेद ७।२१।५)

इति मन्त्रे समुपलभ्यमानं 'शिश्नदेवाः' इति पदं यत् तुलनात्मकभाषाविज्ञानवेदिभिः पाश्चात्यैस्तद्भक्तैश्च भारतीयैः लिङ्गपूजापरकत्वेन व्याख्यायते तत्तु भारतीयशब्दार्थानुशीलनपरम्पराया अज्ञानविजृम्भितमिति विमर्शका निपुणमवगच्छन्तु। न ह्यत्र देवशब्दः इष्टदेवतामभिधत्ते, अपि तु यथा 'शिश्नोदरपरायणः' 'शिश्नोदरतृपः' इत्यादयः शब्दा आत्मम्भरिपुरुषवाचकतया प्रयुज्यन्ते लोके तथैव शब्दस्यास्यापि व्यवहारः प्रयोगश्च तस्मिन्नेवार्थे कृत इति परम्परानुशीलनात् ध्रुवं ज्ञातुं पारयामः। यास्कसायणाभ्यां तथैव अब्रह्मचर्यार्थकोऽयं व्याख्यातः।

अन्यच्च हिरण्यगर्भसूक्ते 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' इत्यत्र किंशब्दस्य सायणेन प्रदर्शितः प्रजापतिरूपोऽर्थो ब्राह्मणपुराणादिसम्मत एव। शतपथब्राह्मणे किंशब्दः प्रजापतिरूपमर्थमभिधत्ते। ऐतरेयब्राह्मणस्य तृतीयपञ्चिकायां च एतद्विषयमाख्यानमपि समुपलभ्यते लोके पुराणादिषु सर्वत्र किंशब्दः प्रजापतौ वर्तते इति सायणाभिमतमर्थं परम्परासम्मतमपि मुधैव दूषयन्तः पाश्चात्यपण्डिता उपेक्ष्या एव। येषां खलु आधिभौतिकपक्षावलम्बनमूलकमेव सायणीयभाष्यविरचनमित्याक्षेपः किं ते न जानन्ति यत् स्थलेषु केषुचित् सायणाचार्या आधिदैविकाध्यात्मिकपक्षानुसारिणोऽप्यर्थान् स्वयं प्रकटीचक्रुः। आध्यात्मिकाद्यर्थविचारपरायणा आरण्यकानि निपुणं परिशीलयन्तु विचारयन्तु च तत्रार्थान् प्रदर्शितान् वेदमन्त्राणाम्। इत्थं प्राचीनपरम्परासम्मतत्वात् पुराणेतिहासानुयायित्वाच्च श्रीसायणभाष्याणामनुशीलनं विधेयं विद्वज्जनैः।

उपस्थिते सार्वत्रिके वेदार्थविप्लवे, उपचीयमाने पाश्चात्यवेदज्ञानां वेदार्थविषयकपारस्परिकेऽनैकमत्ये, अनुसरति च निर्विचारं पाश्चात्यां पद्धतिं भारतीये आङ्ग्लभाषामण्डिते विद्वज्जने, श्रीसायणाचार्या एवास्माकं वेद-तत्त्वजिज्ञासायां परमः समाश्रयः। स एवास्माकं परमा गतिरिति निश्चिन्वन्तो वयं प्रस्तावनामिमां समाप्तिं नयामः। अतो भाष्यमिदं सर्वदा सर्वथा च निखिलैर्वेदाभिमानिभिरखिलवेदसिद्धान्तपरिष्करणाय आलोचनाविषयं नेय-मित्यस्माकमाग्रहः। वेदार्थविचारणचणा विद्वज्जना निपुणमिदं निभालयन्तु इति तेषु कापि मदीयाऽभ्यर्थना। तुष्यतु मत्प्रयत्नेनानेन श्रीभगवान् कमला-पतिः, सफलयतु मदीयं स्वान्तस्तोषाय विहितं परिश्रममिमं, उन्मीलयतु च वेदार्थतत्त्वोन्मेषणाय ममान्तरं प्रातिभं चक्षुरिति ध्रुवमाशास्महे वयम्।

कृतज्ञताप्रकाशः

अन्ते, येषां सन्मन्त्रणया ग्रन्थस्यास्य संशोधने प्रवृत्तोऽहमभवम्, येषां च वेदशास्त्रार्थानुशीलनपद्धत्या बहुशोऽहमुपकृतो जातः, तेषामेव विमलधिष-णानां प्रगल्भप्रतिभावतां सततं शास्त्रार्थचिन्तनजुषामग्रजकल्पानां **श्रीबटुक-नाथशर्मणां** महोपकारभारं कैः समुचितैः शब्दैः प्रकटयामि इति नूनं नैव जाने। यत्र हृदयं हृदयेन सह संवदति तत्र नास्त्येव कोऽप्यवकाशो भाषाया इति निवेदयति।

चैत्रशुक्ला प्रतिपद् १९९१
१६–३–३४
हिन्दूविश्वविद्यालय,
काशी

वेदविदां वशंवदः
श्रीबलदेव उपाध्यायाः

ग्रन्थस्थविषयानुक्रमणिका

(१)

तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकाया विषयानुक्रमणी

(२)

ऋग्वेदसंहिताभाष्यभूमिकाया विषयानुक्रमणिका

(३)

सामवेदसंहिताभाष्यावतरणिकायाः विषयानुक्रमणी



(४)

काण्वसंहिताभाष्यभूमिकाया विषयानुक्रमणी



(५)

अथर्ववेदभाष्यभूमिकायाः विषयानुक्रमणी

[1]कृष्णयजुर्वेदान्तर्गतायाः

तैत्तिरीयसंहिता:

सायणाचार्यकृता

भाष्यभूमिका

—※—

[2]वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।

श्रीमङ्गलमूर्तये नमः ।

१. सम्प्रदायभेदात् शाखाबाहुल्यं वेदस्य । तथाह महाभाष्यकारः पस्पशाह्निके-'एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेदः' इति, कृष्णशुक्लत्वभेदेन यजुर्वेदान्तर्गतशाखाशतस्य द्वैविध्यम् । तत्र

आध्वर्यवं क्वचित् हौत्रं क्वचिदित्यव्यवस्थया ।
बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद् यजुः कृष्णमितीर्यते ॥

कृष्णयजुर्वेदसंहिताया भाष्यं सर्वप्रथमं निबबन्ध तत्रभवान् सायणाचार्यः । यथोक्तं तेनैव ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिकायाम्—

'आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते' ॥ इति

तैत्तिरीयशाखाध्यायित्वात् तस्य तस्या व्याकृतौ प्रथमा प्रवृत्तिरिति बोध्यम् ।

२. इतः पूर्वं केषुचित् पुस्तकेषु श्लोकपञ्चकमधिकं दृश्यते । तद् यथा—

गजवदनमचिन्त्यं तीक्ष्णदन्तं त्रिनेत्रं बृहदुदरविशेषं भूतराजं पुराणम् ।
अमरवरसुपूज्यं रक्तवर्णं सुरेशं पशुपतिसुतमीशं विघ्नराजं नमामि ॥ १ ॥
मूलाधारे चतुष्पत्रे पद्मकिंजल्कशोभिते ।
दाडिमीकुसुमप्रख्ये तरुणादित्यसन्निभे ॥ २ ॥
भगाख्ये कुण्डलीचक्रे पूजयेत् परमेश्वरीम् ।
अङ्कुशं चाक्षसूत्रं च पाशपुस्तकधारिणीम् ॥
मुक्ताहारसमायुक्तां देवीं ध्यायेच्चतुर्भुजाम् ॥ ३ ॥
कपिलसटमुदञ्चत्कर्णमग्नीन्द्विनाक्षं विवृतवदनविद्युज्जिह्वमुत्फुल्लनासम् ।
अरिदरकरयुग्मं योगपट्टाङ्गजानुस्थितकरमरुणाङ्घ्रिं श्रीनृसिंहं नतोऽस्मि ॥ ४ ॥
नमामि विष्णुं विधियज्ञरूपं सरस्वतीं चापि तदीयजिह्वाम् ।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषो गुरूंश्च बौधायनाचार्यपदद्वयं च ॥ ५ ॥

आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
[1]स प्राह नृपतिं राजन् ! सायणार्यो ममानुजः ।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ॥ ४ ॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः ।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ५ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसङ्ग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणं कल्पसूत्रे द्वे मीमांसा व्याकृतिं तथा ।
उदाहृत्याथ तैः सर्वैर्मन्त्रार्थः स्पष्टमीर्य्यते ॥ ७ ॥

ननु कोऽयं वेदो नाम, किं च तल्लक्षणम्, के वास्य विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणः, कथं वा तस्य प्रामाण्यम् ? न खल्वेतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति, वेदो व्याख्यानयोग्यो भवति । अत्रोच्यते । इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः । अलौकिकपदेन प्रत्यक्षानुमाने व्यावर्त्त्येते । अनुभूयमानस्य स्रक्चन्दनवनितादेरिष्टप्राप्तिहेतुत्वं, औषधसेवादेरनिष्टपरिहारहेतुत्वञ्च प्रत्यक्षतः सिद्धम् । स्वेनानुभविष्यमाणस्य पुरुषान्तरगतस्य च तथात्वमनुमामगम्यम् । एवं तर्हि भाविजन्मगतसुखादिकमपि अनुमानगम्यमिति चेत्, न तद्विशेषस्यानवगमात् । न खलु ज्योतिष्टोमादिरिष्टप्राप्तिहेतुः कलञ्जभक्षणवर्जनादिरनिष्टपरिहारहेतुरित्यमुमर्थं वेदव्यतिरेकेणानुमानसहस्रेणापि तार्किकशिरोमणिरप्यवगन्तुं शक्नोति । तस्मादलौकिकोपायबोधको वेद इति लक्षणस्य नातिव्याप्तिः ।

अत एवोक्तम्—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' इति

स एवोपायो वेदस्य विषयः । तद्बोध एव प्रयोजनम् । तद्बोधार्थी च अधिकारी । तेन सह उपकार्योपकारकभावः सम्बन्धः । नन्वेवं सति स्त्रीशूद्रसहिताः सर्वे वेदाधिकारिणः स्युः, इष्टं मे स्यादनिष्टं मा भूदिति आशिषः सार्वजनीनत्वात् । मैवं, स्त्रीशूद्रयोः सत्युपाये बोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण वेदाधिकारस्य प्रतिबद्धत्वात् । उपनीतस्यैवाध्ययनाधिकारं ब्रुवच्छास्त्रमनुपनीतयोः स्त्रीशूद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिहेतुरिति बोधयति । कथं तर्हि तयोस्तदुपायावगमः, पुराणादिभिरिति ब्रूमः ।

अत एवोक्तम्—

'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्' ॥ (भागवत १।४।२५) इति

---

1. एतत् श्लोकद्वयं केषुचित् न दृश्यते ॥

तस्मादुपनीतैरेव त्रैवर्णिकैर्वेदस्य सम्बन्धः।

तत्प्रामाण्यं तु बोधकत्वात् स्वत एव सिद्धम्। पौरुषेयवाक्यं तु बोधकमपि सत् पुरुषगतभ्रान्तिमूलत्वसम्भावनया तत्परिहाराय मूलप्रमाणमपेक्षते, न तु वेदः। तस्य नित्यत्वेन वक्तृदोषशङ्कानुदयात्। एतदेवजैमिनिना सूत्रितम्—'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षितत्वात् (मी० १।१।५) इति।[1]

ननु वेदोऽपि कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेय एव ब्रह्मकार्य्यत्वश्रवणात्-

'ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्
यजुः तस्मादजायत'॥ (ऋ० १०।९०।९) इति श्रुतेः।

अत एव बादरायणः 'शास्त्रयोनित्वात्' (वे० १।१।३) इति[2] सूत्रेण ब्रह्मणो वेदकारणत्वमवोचत्। मैवं, श्रुतिस्मृतिभ्यां नित्यत्वावगमात्।

'वाचा विरूप नित्यया' इति श्रुतेः (ऋ० ८।७५।६)[3]
'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवाः, इति स्मृतेश्च।

बादरायणोऽपि देवताधिकरणे सूत्रयामास। 'अत एव च नित्यत्वम्' (वे० १।३।२९) इति[4]। तर्हि परस्परविरोध इति चेत्, न नित्यत्वस्य व्यावहारिकत्वात्। सृष्टेरूर्द्ध्वं संहारात् पूर्वं व्यवहारकालः, तस्मिन्नुत्पत्तिविनाशादर्शनात्। कालाकाशादयो यथा नित्या एवं वेदोऽपि व्यवहार-

१. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानोपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे, तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षितत्वात्' इति सम्पूर्णं सूत्रम्। तत्रेदमित्थं व्याख्यातं शबरस्वामिना स्वभाष्ये–'औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो, नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः। औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य अग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य। कथम्। उपदेशो हि भवति। उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्। अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य। नहि तदुत्पन्नं ज्ञानं न विपर्येति, न तच्छक्यते वक्तुम्, एतदेवमिति। यथा भवति–यथा विज्ञायते, न तथा भवति-तथैतन्न विज्ञायते, तथैतदिति अन्यदस्य हृदये अन्यद् वाचि स्यात्। एवं वदतो विरुद्धमिदं गम्यते अस्ति वेति, तस्मात् तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात्। नहि एवं सति प्रत्ययो ह्यसौ। बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते बादरायणं पूजयितुम्, नात्मीयं मतं पर्युदासितुम्।'

२. तदिदमेवं व्याख्यातवन्तः श्रीशङ्करभगवत्पादाः—महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रास्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।

३. तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥

'हे विरूप नानारूपैतन्नामक महर्षे त्वं तस्मै सिद्धायाभिद्यवेऽभिगततृप्तये वृष्णे वर्षकायाग्नये नित्यया उत्पत्तिरहितया वाचा मन्त्ररूपया सुष्टुतिं नूनमिदानीं चोदस्व। स्तुहीत्येवमृषिः आत्मानं ब्रवीति यजमानो होतारं वा विरूपम्' इति तत्रत्यं सायणभाष्यम्।

४. अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वात् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यमिति शाङ्करभाष्यात्।

काले कालिदासादिवाक्यवत् पुरुषविरचितत्वाभावान्नित्यः आदिसृष्टौ तु कालाकाशादिवदेव ब्रह्मणः सकाशाद्वेदोत्पत्तिराम्नायते। अतो विषय-भेदान्न परस्परविरोधः। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृदोषाभावात् स्वतस्सिद्धं प्रामाण्यं तदवस्थम्। तस्माल्लक्षणप्रमाणसद्भावाद्विषयप्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिसत्त्वात् प्रामाण्यस्य सुस्थत्वाच्च वेदो व्याख्यातव्य एव। यथोक्तविषयादिसद्भावमभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इत्यध्ययनं विधीयते। पाठमात्रस्याध्ययनशब्दवाच्यत्वेनार्थावबोधस्या-विहितत्वाद्वेदव्याख्यानमयुक्तमिति चेत्, न। विधेर्बोधपर्य्यवसायित्वात्। एतच्च भट्टगुरुमतानुसारिभिर्बहुधा प्रपञ्चितम् आम्नायते च—

'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्'॥
'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ (नि १।६)

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। एवं तर्हि ज्ञानस्य पृथग्विधानादध्ययनं पाठमात्रमिति चेत्, अस्तु नाम, वर्णयन्त्येव शाङ्करदर्शनानुसारिणः।

क्रतुविधिभिरेवानुष्ठानान्यथानुपपत्त्या वेदार्थज्ञानस्य प्रापितत्वान्नैत-द्विधेयमिति चेत्, तर्हि तद्विधिबलाद्वेदनमात्रेण स्वतन्त्रं किञ्चिदपूर्व्वमस्तु। श्रूयते ह्यनुष्ठानज्ञानयोः स्वतन्त्रं पृथक् फलम्—

'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इति।

अल्पप्रयाससाध्येन वेदनेन तत्सिद्धौ बह्वायाससाध्यमनुष्ठानं व्यर्थं स्या-दिति चेत्, न। तरणीयाया ब्रह्महत्याया मानसिककायिकत्वादिभेदेन तार-तम्योपपत्तेः। मनसा सङ्कल्पिता वाचाभ्यनुज्ञाता वा परहस्तेन कारिता स्वयं कृता पुनः पुनः कृता चेत्येवं तारतम्येनावस्थिता ब्रह्महत्या अनेकविधा। अतस्तरणमप्यनेकविधं यथा स्वर्गो बहुविधस्तद्वत्। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्', इत्याद्युच्चावचकर्म्मणामेकविधफलासम्भवात् स्वर्गो बहुविधः। यत्तु कर्म्मानुष्ठानकालीनं वेदनं तत्कर्मफल एवातिशयं दर्शयति। 'उभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' इति विद्वदविद्वत्प्रयोगौ प्रस्तुत्य, 'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' इत्याम्नायात्। अङ्गोपास्तिविषयमेतद्वा-क्यमिति चेत्, न। न्यायस्य समानत्वात्। अस्ति ह्यस्यार्थस्योपोद्बलकं लिङ्गम्। प्रजापतिः किल सोमयागेभ्योऽर्व्वाचीनानग्निहोत्रपौर्णमास्यामावा-

स्यन्नामकान् परस्परमुच्चावचान् यज्ञान् ससर्ज । सोमयागांश्चाग्निहोत्रादिभ्यः प्रौढानग्निष्टोमोक्थ्यातिरात्रनामकान् परस्परमुच्चावचान् सृष्ट्वा-प्रथमसृष्टेष्वग्निहोत्रादिष्वभिमानविशेषेण वर्गद्वयं तुलयोदमिमीत । एतत् वृत्तान्तं विजानतोऽग्निहोत्रादिभिरग्निष्टोमादिफलं भवति । तथा च ब्राह्मणमाम्नायते—

'प्रजापतिर्यज्ञानसृजत । अग्निहोत्रञ्चाग्निष्टोमञ्च । पौर्णमासीञ्चोक्थ्यञ्च । अमावास्याञ्चातिरात्रञ्च तानुदमिमीत । यावदग्निहोत्रमासीत्तावानग्निष्टोमः । यावती पौर्णमासी तावानुक्थ्यः । यावत्यमावास्या तावानतिरात्रः । य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यावदग्निष्टोमेनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति । य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, यावदुक्थ्येनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति । य एवं विद्वानमावास्यां यजते, यावदतिरात्रेणोपाप्नोति ताशदुपाप्नोति' इति । तदेतद्वेदनस्य सर्वत्र स्वतन्त्रफलकत्वं लिङ्गम् । किञ्च तत्तद्विधिसमीपे य एवं वेदेति वचनानि वेदनादेव फलं ब्रुवते । तान्यर्थवादरूपाणीति चेत्, अस्तु नाम । सहामहे वैतमपराधं तेषां वचनानां विधेयार्थप्रशंसापरत्वात् । तर्हि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः', इति न्यायेन स्वार्थे प्रामाण्यं नास्तीति चेत्, न । महातात्पर्य्यस्य विधेयविषयत्वेऽप्यवान्तरतात्पर्य्यस्य स्वार्थविषयतानिवारणात् । 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्यर्थवादस्यापि स्वार्थप्रामाण्यं प्रसज्येतेति चेत्, न । प्रमामान्तरबाधितत्वात् । 'द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते' इत्याद्यर्थवादस्य तु बाधाभावेऽप्यनुवादत्वान्न स्वार्थे प्रामाण्यम् । वेदनफलवचनानि तु नानुवादकानि नापि बाध्यानि । तस्मादर्थवादत्वेऽप्यस्त्येषां स्वार्थे प्रामाण्यम् । अन्यथा मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवादीनां विग्रहादिमत्त्वं न सिध्येत् ।

अत एवोक्तम्—

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥' इति

किं वहुना । विद्यत एवावश्यं वेदनमात्रादपूर्वम् । अतो वेदनाय वेदो व्याख्यायते । योऽयं विषयरूप इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारोपायः सामान्यतो निर्दिष्टः स विशेषेण स्पष्टीक्रियते ।

वेदस्तावत् काण्डद्वयात्मकः । तत्र पूर्व्वस्मिन् काण्डे नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धरूपं चतुर्विधं कर्म्म प्रपिपाद्यम् । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिकं नित्यं, तस्य नियतनिमित्तत्वात् । 'यस्य गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादिकं नैमित्तिकं, तस्यानियतनिमित्तत्वात् । 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादिकं काम्यम् । 'तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत न सहासीत' इत्यादिकं निषिद्धम् । तेषु नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्तदकरणे प्रत्यवायरूपमनिष्टं परिह्रियते । स च प्रत्यवायो

याज्ञवल्क्येन स्मर्य्यते—

'विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥' (या० स्मृ० ३।२१९) इति

यावज्जीवादिवाक्येष्वनुक्तोऽप्यवर्जनीयतया स्वाभीष्टः स्वर्गः प्राप्यते । तथा चापस्तम्बः—'तद्यथा आम्रे फलार्थे निर्म्मिते च्छायागन्धावित्यनूत्पद्येते एवं धर्म्मेऽपि चर्य्यमाणेऽर्था अनूत्पद्यन्ते' इति । काम्यस्येष्टप्राप्तिहेतुत्वं तद्विधिवाक्य एव स्पष्टम् । इष्टविधातमनिष्टञ्चार्थात् परिह्रियते । निषिद्धवर्जनेन रागप्राप्तनिषिद्धानुष्ठानजन्यो नरकपातः परिह्रियते । न केवलं नित्यनैमित्तिकाभ्यामानुषङ्गिकस्वर्गप्राप्तिः, किन्तु धीशुध्यादिविविदिषोत्पादनद्वारा ब्रह्मज्ञानहेतुत्वमपि तयोरस्ति । तथा च वाजसनेयिनः समामनन्ति—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति । एवं तर्हि पूर्व्वकाण्ड एवाशेषपुरुषार्थसिद्धेः कृतमुत्तरकाण्डेनेति चेत्, न । अपुनरावृत्तिलक्षणस्यात्यन्तिकपुरुषार्थस्य तत्रासिद्धेः । अत एवाथर्वणिकाः कर्म्मिणो दक्षिणमार्गेण चन्द्रप्राप्तिं पुनरावृत्तिं चामनन्ति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते' इति । अत उत्तरकाण्ड आरब्धव्यः । आत्यन्तिकतुरुषार्थसिद्धिश्च द्विविधा सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्चेति । वर्त्तमानदेहपातानन्तरमेव सिध्यति सद्योमुक्तिः । उत्तरमार्गेण गत्वा ब्रह्मलोके चिरं भोगाननुभूय तत्रोत्पन्नज्ञानस्य ब्रह्मलोकावसाने सिध्यति क्रममुक्तिः । तस्मादुत्तरकाण्डे ब्रह्मोपदेशो ब्रह्मोपास्तिश्चेत्युभयं प्रतिपाद्यते । ब्रह्मोपास्तिप्रसङ्गाद् ब्रह्मदृष्टया प्रतीकमुपास्यत्वेन सांसारिकफलकामिनमुद्दिश्य प्रतिपाद्यते । ब्रह्मोपासकप्रतीकोपासकयोः समानेऽप्युत्तरमार्गे प्रतीकोपासकस्य विद्युल्लोकादूर्ध्वं ब्रह्मलोकगमनाभावेन क्रममुक्तेरप्यभावादस्ति पुनरावृत्तिः । एतच्च 'अप्रतीकालम्बनान् नयति' इत्यधिकरणे (वे० ४।३।१५–१६) द्रष्टव्यम् ।

नन्वस्त्वेवं पूर्वोत्तरकाण्डयोस्तत्र तत्रोचितप्रयोजनं फलविशेषश्च, तथापि पूर्व्वकाण्डस्यादौ कर्म्मान्तरं परित्यज्य दर्शपूर्णमासेष्टिरेव कुतः प्रतिपाद्यत इति चेत्, प्रकृतित्वान्निरपेक्षत्वाच्चेति ब्रूमः । प्रकर्षेण अङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः । कृत्स्नाङ्गविषयत्वमुपदेशस्य प्रकर्षः । विकृतिषु तु विशेषाङ्गमात्रस्योपदेशः क्रियते अङ्गान्तराणि तु प्रकृतेरतिदिश्यन्ते । अतोऽतिदेशस्य प्रकर्षाभावः । प्रकृतिस्त्रिविधा—अग्निहोत्रमिष्टिः सोमश्चेति । त्रिष्वप्येतेषु अन्यनैरपेक्ष्येण स्वाङ्गजातं सर्वमुपदिष्टम् । तत्र सोमयागस्य स्वरूपेणान्यनैरपेक्ष्येऽप्यङ्गेषु दीक्षणीयाप्रायणीयादिषु दर्शपूर्णमासेष्टिसापेक्षत्वान्न पूर्व्वभावित्वं युक्तम् । इष्टेस्तु सोमयागनैरपेक्ष्यात् सोमात् प्राचीनत्वं युक्तम् । यद्यप्यग्निहोत्रस्य स्वरूपेऽङ्गेषु वा

नास्त्यन्यापेक्षा तथाप्यग्निसिद्धयपेक्षत्वादाहवनीयाद्यग्नीनाञ्च पावमानेष्टि-साध्यत्वात्, पावमानेष्टीनां च दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् परम्परयाऽग्नि-होत्रस्य दर्शपूर्णमासापेक्षास्तीति प्रथमभावित्वं न युक्तम्। दर्शपूर्णमासयो-रग्निसाध्यत्वादग्निसाधकमाधानं प्रथमतो वक्तव्यमिति चेत्, मैवम्। नाधानमात्रेणाग्नयः सिध्यन्ति किन्तु पवमानेष्टिभिरपि। ताश्च इष्टयो दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् साक्षादेव दर्शपूर्णमासावपेक्षन्ते। दर्शपूर्णमासौ तु अग्निद्वारा पावमानेष्टिसापेक्षावपि न साक्षाद् पवमानेष्टीरपेक्षेते। अतो निरपेक्षत्वाद्दर्शपूर्णमासेष्टिरेव प्रथमं वक्तव्या। ऋग्वेदसामवेदयोरादौ दर्शपूर्णमासेष्टिर्नाम्नातेति चेत्, बाढम्। यजुर्वेदमपेक्ष्य दर्शपूर्णमासयो-रादित्वमुक्तं कर्मकाण्डविषये यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यात्। आनुपूर्व्यात् कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे सामाम्नातम्। तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षितायां याज्या-पुरोऽनुवाक्यादय ऋग्वेदे सामाम्नायन्ते, स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्म्मसु यजु-र्वेदस्य प्राधान्यं, तस्मिंश्च दर्शपूर्णमासेष्टिरादौ समाम्नाता। यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः। मन्त्राश्च त्रिविधाः ऋचः सामानि यजूंषि चेति। तत्र यजुषा-मध्वर्य्युवेदेऽतिबहुलत्वात् क्वचित् क्वचिदृचां सद्भावेऽपि यजुर्वेद इत्येवा-ख्यायते। अध्वर्युवेदत्वञ्चास्यानादिसिद्धयाज्ञिकसमाख्याबलादवगन्तव्यम्। अस्मिन् वेदे समाख्याता दर्शपूर्णमासेष्टिमन्त्रास्त्रिविधाः, आध्वर्य्यवाः। याजमाना हौत्रकाश्चेति। 'इषे' इत्यादौ प्रपाठके पठिता अध्वर्यवाः। 'सं त्वा सिञ्चामि' इत्यादौ पठिता याजमानाः। 'सत्यं प्रपद्ये' इत्यादो पठिता हौत्राः। एतेषां मध्ये याजमानानां हौत्राणाञ्च चित्रस्थानियत्वाद् भित्तिस्था-नीयानामाध्वर्य्यवाणामेवादौ पाठो युज्यत इति। तेऽपि आध्वर्य्यवाः 'इषे त्वा' इत्यादिषु त्रयोदशस्वनुवाकेषु आम्नाताः। तत्र प्रथनेऽनुवाके वत्सा-पाकरणार्था मन्त्राः। द्वितीये वर्हिःसम्पादनार्थाः। तृतीये दोहनार्थाः। चतुर्थे हविर्निवापार्थाः। पञ्चमे व्रीह्यवघातार्थाः। षष्ठे तण्डुलपेषणार्थाः। सप्तमे कपालोपधानार्थाः। अष्टमे पुरोडाशनिष्पादनार्थाः। नवमे वेदीकर-णार्थाः। दशमे प्राधान्येनाज्यग्रहणार्थाः प्रसङ्गात् पत्नीसंनहनार्थाः। एका-दशे प्राधान्येनेध्मसंनहनार्था बर्हिरास्तरणाद्यर्थाश्च। द्वादशे आधारार्थाः। अत्र सामिधेनीप्रयाजाज्यभागप्रधानयागादिमन्त्राणां प्राप्तावसरत्वेऽपि तेषां हौत्रत्वात् तानुपेक्ष्योपरितनप्रयोगाङ्गभूता आध्वर्यवाः स्रुग्व्यूहनादिमन्त्रा-स्त्रयोदशे समाम्नातः। तदेतत् सर्व्वं विनियोगसंग्रहकारेणेत्थं संगृहीतम्—

'ये दर्शपूर्णमासाङ्गमन्त्रा एते समासतः।
इषे त्वाऽद्यनुवाकेषु त्रयोदशसु वर्णिताः॥
वत्सापाकरणं बर्हिर्दोहो निर्वापकण्डने।

पेषणञ्च कपालानि पुरोडाशश्च वेदिका ॥
आज्यग्रहेध्मसंनाहावाघारोपरितन्त्रके ।
इत्युक्ता अनुवाकार्थाः प्रतिमन्त्रं क्रियोच्यते' ॥ इति ।

किमिदं वत्सापाकरणं, कथं वा तस्य प्राथम्यमिति चेत्, उच्यते। सन्ति दर्शयागे त्रीणि प्रधानानि हवींषि, पूर्णमासयागे च त्रीणि। आग्नेयोऽष्टाकपाल ऐन्द्रं दध्यैन्द्रं पय इति दर्शयागे। आग्नेलोऽष्टाकपाल आज्येन प्राजापत्य उपांशुयागोऽग्नीषोमीय एकादशकपाल इति पूर्णमासे। तत्र प्रतिपद्दिने दधिहोमे दधिसम्पादनायामावस्यायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः। तद्दोहनार्थं प्रातःकाले लौकिकदोहनादूर्ध्वं स्वमातृभिः सह सञ्चरन्तो वत्सा मातृभ्योऽपाकरणीयाः। तदिदं वत्सापाकरणं यथोक्तरीत्या, तस्य प्राथम्यञ्च। तत्र वत्सापाकरणं सद्यश्छिन्नया पलाशशाखया कर्त्तव्यमिति। तच्छेदनार्थोऽयमिषे त्वेति मन्त्र आदौ समाम्नायते। तस्य च मन्त्रस्य तच्छेदनाङ्गत्वं ब्राह्मणे द्रष्टव्यम्। अत एव सब्राह्मणो मन्त्रो ज्ञातव्य इति। छन्दोगा अधीयते—'यो ह ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वाध्यापयति वा स्थानं वर्च्छति गर्त्तं वा पात्यते प्रमीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। आर्षेय ऋषिसम्बन्धः। अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो हि ऋषयः। तेषां वेदद्रष्टृत्वं स्मर्य्यते—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्व्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा' ॥ इति ।

इषे त्वादिनाञ्च मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः। तथा च काण्डानुक्रमणिकायामुक्तम्—

'शाखादि याजमानञ्च होतॄन् हौत्रञ्च दार्शिकम्।
तद्विधीन् पितृमेधञ्च नवाहुः कस्य तद्विदः' ॥ इति ।

शाखादिरिषे त्वादिप्रपाठकः। याजमानं सं त्वा सिञ्चामीत्यादि। होतारः चित्तिः स्रुगित्यादयो मन्त्राः। सत्यं प्रपद्य इत्यादिकं दार्शिकं हौत्रम्। तद्विधयः प्रोक्तानाञ्चतुर्विधमन्त्राणां चत्वारि ब्राह्मणानि। पितृमेधः परे युवा समित्यादिः। तान्येतानि नवकाण्डानि प्रजापतिना दृष्टानि। छन्दोविशेषाश्च वेदाङ्गभूते छन्दोनामके ग्रन्थे द्रष्टव्याः। मन्त्रपदव्याख्यानादेव तत् प्रतिपाद्यार्थरूपदेवता विज्ञायते। ब्राह्मणविशेषस्तु तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसर एवोदाह्रियते। यद्यपि मन्त्रविनियोगा ब्राह्मणे सर्वेऽपि नाम्नाताः तथापि कल्पसूत्रकारैर्ब्राह्मणान्तरपर्य्यालोचनया सर्वेऽभिहिताः। अतो बोधायनादिसूत्रोदाहरणादिपूर्व्वकं ब्राह्मणानुसारेण मन्त्रार्थं योजयामः।

इति तैत्तिरीयसंहिता भाष्यभूमिका ।



ऋग्वेदसंहितायाः

सायणाचार्यकृता

भाष्यभूमिका

सायणाचार्यकृता

ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका



वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन् माधवाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्य्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥
आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥
एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः सम्प्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

अभ्यर्हितत्वादृग्वेदस्यैव व्याख्यानमादावुचितमिति पूर्वपक्षः ।

अत्र केचिदाहुः—ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्र आम्नातत्वाद् 'अभ्यर्हितं पूर्वं' इति न्यायेन अभ्यर्हितत्वाद् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्; प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्—

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः[1] सामानि[2] जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजु[3]स्तस्मादजायत ॥' (ऋ. सं. १०।९०।९)इति

अस्मात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्युक्तात् परमेश्वरात्, यज्ञाद् यजनीयात् । सर्व्वहुतः सर्व्वैर्हूयमानात् । यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः ।

---

१. ऋग्लक्षणं यथाह जैमिनिः—
'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी० २।१।३५) 'तत्र पादकृता व्यवस्था स मन्त्र ऋङ्नामा' शवरस्वामी । 'पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः' इति जैमिनीयन्याय-मालायां माधवाचार्यः ।

२. सामलक्षणम्—'गीतिषु सामाख्या' (मी० २।१।३६) 'विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते । प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति' इति शवरस्वामी ।

३. यजुर्लक्षणम्—'शेषे यजुःशब्दः' (मी० २।१।३७) 'या न गीतिर्न च पादबद्धं तत् प्रश्लिष्टपठितं यजुः' इति शवरस्वामी । 'वृत्तिगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि' इति जैमिनीयन्यायविस्तरे माधवाचार्यः ।

तथा च मन्त्रवर्णः—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्त्य-
ग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥' (ऋ. सं. १।१६४।४६) इति

वाजसनेयिनश्चामनन्ति—

'तद् यद् इदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवम्
एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्व्वे देवाः' (बृ. उ. १।४।६) इति।

तस्मात् सर्व्वैरपि परमेश्वर एव हूयते ।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येन अभ्यर्हितत्वं किन्तु यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वादपि । तथा च तैत्तिरीयाः आमनन्ति—

'तत् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम् (तै० सं० ६।५।१०।३) इति ।

तथा च सर्व्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदाढ्र्याय 'तदेतद्‌ऋचा अभ्युक्तम्' इति ऋचमेव उदाहरन्ति । मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्र अध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः । साम्नां तु सर्व्वेषाम् ऋगाश्रितत्वं प्रसिद्धम् । आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायाम् ऋच एव बाहुल्येन अधीयन्ते । अतोऽन्यैः सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम् ।

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति—
'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छां. उ. ७।१।२) इति मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते—

'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मुं० उ० १।१।५) इति ।

तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति—

'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२) इति ।

एवं सर्व्वत्र उदाहरणीयम् । तस्माद् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति ।

यज्ञानुष्ठानार्थत्वाद् यजुर्वेदस्यैवादौ व्याख्यानमित्युत्तरपक्षः ।

तान् प्रति एतदुच्यते—

अस्तु एवं सर्व्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम् । अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वाद् तद्वचाख्यानमेव आदौ युक्तम् ।

तत्प्राधान्यं च काचिदृगेव आह—

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥'
(ऋ. सं. १०।७१।११) इति ।

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः सङ्क्षिप्य दर्शयति 'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' इति । पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणोति—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (नि० १।८) इति । अस्यायमर्थः—त्वशब्दः एकशब्दपर्य्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानाम् ऋचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नतानाम् ऋचां सङ्घमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति । सेयं पुष्टिः । अर्चनीत्यमुमर्थमृक्छब्द आचष्टे । अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वेत्यृक्छब्दव्युत्पत्तिरिति ।

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति—'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्म्मणः शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते' इति । अस्यायमर्थः—उद्गातृनामक एक ऋत्विग् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयास्वृक्षु गायति, धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः । शक्वरीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः, वृत्रं शत्रुं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिश्चित् ब्राह्मणे विज्ञायत इति ।

अथ तृतीयं पादं विवृणोति—'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' इति । अस्यायमर्थः—ब्रह्मनामक एक ऋत्विग् जाते जाते तदा तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्म्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति; 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' इत्येवं सम्बोधितः सन् 'ॐ प्रणय' इत्यनुजानाति । स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्व्वकर्म्माभिज्ञः । तस्माद् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रमादे समाधातुं च समर्थ इति । तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति—

'एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी । तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताध्वर्य्युरुद्गातान्यतराम्' (छ. उ. ४।१६। १-२) इति ।

कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसन्धेयः, वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः । तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति, ब्रह्मा त्वेक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति । तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति ।

अथ चतुर्थं पादं विवृणोति—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्य्युरध्वर्य्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इति । अस्यायमर्थः—अध्वर्य्युनामक एक ऋत्विग् यज्ञयस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति । मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम् । तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्य्योर्नामनिर्वचनादवगम्यते । 'अध्वर्य्युः' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य

'अध्वरयु:' इति नाम सम्पादनीयम्। अध्वरं युनक्ति इति अवयावार्थः। अध्वरस्य नेता इति तात्पर्य्यार्थं इति।

एतदेव अभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति—

'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति।

एवंसति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्य्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। तत ऊर्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वाद् उभयोर्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तम् इति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते।

लक्षणप्रमाणराहित्याद् वेदस्यासद्भाव इति पूर्वपक्षः।

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः? तथा हि, कोऽयं वेदो नाम? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति। न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतन।

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत्? न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः। समयबलेन 'सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्य आगमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात्।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोष इति चेत्? न, वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात्। शरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावाद् अपौरुषेयत्वमिति चेत्? न, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात्।

कर्म्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत्?। न, जीवविषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्। 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्' (ऐत० ब्रा० ५।३२) ऐति। श्रुतेः ईश्वरस्य अग्नयादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम्।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत्? न, ईदृशो मन्त्र ईदृशं ब्राह्मणमित्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात्। तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम्।

नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः। 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छां० उ० ७।१।२) इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्? न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (या० स्मृ० १।४०)

इत्यादि स्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्? न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात्।

प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमपि अयोग्यम्। वेदविषया तु लोकप्रसिद्धिः

सार्व्वजनीनापि 'नीलं नभः' इत्यादिवद् भ्रान्ता। तस्मात् लक्षणप्रमाणरहितस्य वेदस्य सद्भावो नाङ्गीकर्त्तुं शक्यते इति पूर्व्वः पक्षः।

उत्तरपक्षत्वेन वेदसद्भावे लक्षणप्रमाणादिनिर्णयः। अत्रोच्यते—मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३) इति। तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टात् निर्णेष्यते। अपौरुषेयवाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति। प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि। यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकासकत्वाभावेऽपि सूर्य्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु। अत एव सम्प्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति। तथा सति वेदमूलायाः स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम्। तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम्।

ननु अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यानमर्हति, अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात्। न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्र दुःसम्पादत्वात्। तथा हि—'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम' इति केचित् लक्षणमाहुः। अपरे तु 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इत्याचक्षते। न चैतदुभयं वेदे सम्भवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः।

'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० सं० १।१६९।३) इत्यको मन्त्रः[1]।

'यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० सं० ५।४४।८) इत्यन्यः[2]।

---

१. अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥

इजि सम्पूर्णो मन्त्रः। तत्रत्यसायणभाष्यसङ्क्षेपः—हे इन्द्र ते सा प्रसिद्धा ऋष्टिः वज्रं अस्मद्वृष्ट्यर्थं अम्यक् प्राप्नोति मेघसमीपे। मरुतः सनेमि चिरकालं संगृहीतं अभ्वं जलं जुनन्ति क्षिपन्ति। वर्षन्तीत्यर्थः। अग्निः चित् अग्निरपि। हि स्मेति पूरणे। अतसे सन्तते कर्मणि शुशुक्वान् दीप्यमानो वर्तते। प्रयासि हवींषि दधति धारयन्ति यजमानाः। द्विपार्श्वस्थोदकवान् पर्वतादिर्द्वीपः। तं तथा आपो धारयन्ति तद्वत्॥

२. सम्पूर्णमन्त्रस्तु
ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।
यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् य उ स्वयं वहते सो अरं करत्॥

तत्रत्यसायणभाष्यसङ्क्षेपः—ज्यायांसं अतिशयेन प्रवृद्धं अस्य यतुनस्य गन्तुः सूर्यस्य केतुना उदयादिलक्षणेन प्रज्ञापकेन कर्मणा विशिष्टं ऋषिस्वरं ऋषिभिः स्तुत्यं यासु स्तुतिषु ते त्वदीयं नाम नमनं नामकं वा रूपं वर्तते। ताभिः त्वां चरति भजते यजमानः इत्यर्थः। यादृश्मिन् यादृशे कामे धायि धृतं मन इति शेषः। तं कामं अपस्यया हविःस्तुत्यादिलक्षणेन कर्मणा विदत् विन्दते। य उ य एव वहते धारयति फलं, सः अरं अत्यर्थं करत् कुर्यात्॥

'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीत्' (ऋ० सं० १०।१०६।६) इत्यपरः[1]।

एवम् 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा'[2] (ऋ० सं० १०।८९।५) इत्यादय उदाहार्य्याः। न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेषु अनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधनत्वं च दूरापेतम्।

'अधस्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति मंत्रस्य बोधकत्वेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम्।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै०सं०१।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषयः (अश्व० गृ० १।१७।८)। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषयः (आश्व० गृ० १।१७।९)। 'श्रृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१) इति पाषाणविषयः। एतेषु अचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवत् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयायतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (तै० सं ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयोः 'यावज्जीवमहं, मौनी' इति वाक्यवत् व्याघातबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

'आप उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (आप० मं० पा० २।८।९) इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः

---

१. सम्पूर्णमन्त्रस्तु

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥

तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेपः—सृण्याविव सृणिः अङ्कुशः तत्र साधुरिति यत् अङ्कुशार्हौ मत्तगजाविव तुर्फरी शत्रूणां हन्तारौ। नितोशस्य वधकर्तुः अपत्यं नैतोशः ताविव तुर्फरी हन्तारौ पर्फरीकौ शत्रूणां विदारयितारौ। उदन्यजे इव उदकजातौ इव निर्मलौ कान्तियुक्तौ। जेमना जेमनौ जयशीलौ। मदेरू बलातिशयेन मत्तौ ता तावश्विनौ युवां मे मदीयं जरायु जरायुजं अतएव मरायु मरणशीलं शरीरं अजरं जरारहितं कुरुतम् ॥

२. सम्पूर्णमन्त्रस्तु—

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ॥

तत्रत्यं सायणभाष्यम्—आपान्तमन्युः आपातितमन्युः तृपलप्रभर्मा ग्रावादिभिः क्षिप्रप्रहारी धुनिः शत्रूणां कम्पयिता शिमीवान् कर्मवान् शरुमान् आयुधमान् ऋजीषी ऋजीषवान् सोमो विश्वानि सर्वाणि अतसा अतसमयानि वनानि अरण्यानि वर्धयतीति शेषः। प्रतिमानानि प्रतिमानभूतानि समानद्रव्याणीत्यर्थः। इन्द्रं अर्वाक् देभुः दभ्नोतिरत्रापकर्षणकर्मा। तुलया मीयमानानि आत्माभिमुखतया नाकर्षयन्ति लघूनि भवन्तीत्यर्थः। अन्यत्र प्रति निधीयमानानि गुरूणि तानि आत्माभिमुखमाकर्षन्ति नैवमिन्द्रं कुर्वन्तीति सर्वेभ्यो महानिन्द्र इत्यर्थः। त्रयः पादाः सौम्याः तुरीयस्त्वैन्द्रः। यास्केनापि निरुक्ते व्याख्यातोऽयं मन्त्रः (निः ५।१२)।

शुभिकायाः वरवध्वोः शिरसि अवस्थानं ब्रूते। तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वाद् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति। तस्मान् मन्त्रभागो न प्रमाणम्। अत्रोच्यते—

अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः। तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति। अत एव अत्र लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' (नि० १।१६) इति।

'अधः स्विदासीत्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः। किं तर्हि? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसम्प्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इत्यनया वचोभङ्ग्या उपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (ऋ० सं० १०।१२९।६) इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः।

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवतास्तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु०' (ब्र० सू० २।१।५) इति [1]सूत्रे सूत्रिताः।

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्त्तिस्वीकारात् नास्ति परस्परव्याघातः।

जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानुग्रहस्य अप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेन अज्ञातार्थज्ञापकत्वम्।

ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्। एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिर्मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत् (जै० सू० १।२।३१–४५)। तानि च सूत्राणि क्रमेण उदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) इति।

यस्यार्थस्य अभिधाने समर्थो मन्त्रः, स एव अभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मणवाक्यस्य, तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम्। तस्मात् शास्त्राद् अविवक्षितार्थो मन्त्र इत्यवगम्यते। तथा हि—'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८ वा० सं० १।२२) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते 'पुरोडाशं प्रथयति' (तै० ब्रा० ३।२।८।४ श० ब्रा० १।२।२।८) इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते। तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबोधनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम्। तस्मान् मन्त्रा उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति।

१. (सम्पूर्णसूत्रं) तु अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'। 'न खलु मृदब्रवीदित्येवञ्जातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयं यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः। मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम्।' इति तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम्।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत। अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते। तस्माद् ब्राह्मणस्य अनुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्य अभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति––

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२) इति।

'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते। अर्थप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव। तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्यायोच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम्।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधार्थ एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति––

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३) इति।

'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोगकाले पठ्यते। तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकर्त्तव्यत्वेन बुद्धम्। तस्य च बुद्धस्य अर्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम्। न हि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति।

ननु बुद्धस्य अपि अर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारणमस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति––

'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४) इति।

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य' (ऋ० सं० ४।५८।३)

इति मन्त्र आम्नायते। न खलु चतुःशृङ्गत्वाद्युपेतं किञ्चिद् यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेन अनुस्मर्य्येत।

ननु ईदृशी काचिद् देवता स्यादित्याशङ्क्य अन्यं दोषं सूत्रयति––

'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) इति।

'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनोचितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति। स चायुक्तः।

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्यभिमानिचेतनदेवता अत्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति––

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६) इति।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) इति मन्त्रः आम्नायते। यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः। एवम् 'एक एव रुद्रः' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यादिकमपि उदाहर्त्तव्यम्।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवद् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते। एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्याद् बहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु। ततो नार्थविप्रतिषेध इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति––

'स्वाध्यायवदवचनात्' (जै० १।२।३७) इति ।

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति । तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचिदवघातमन्त्रमधीते । न च तस्य अर्थप्रकाशन-विवक्षा अस्ति । प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्य अपठ्यमानत्वाद् । अक्षरग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यांश्च मन्त्रान् अभ्यस्यति । तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते, तथा कर्म्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति ।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नास्ति । पूर्णिकापि अवबोद्धुमक्षमा । कर्म्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बोधश्च सम्भवति इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविज्ञेयात्' (जै० १।२।३८) इति ।

केषाञ्चिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते । तद् यथा—'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः । 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यपरो मन्त्रः ।

ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधाय एव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगान् मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९) इति ।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋ० सं० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः । तथा नैचाशाखं नाम नगरं, प्रमगन्दो नाम राजा इत्येते अर्था अनित्या आम्नाताः । तथा च सति प्राक् प्रमगन्दान् नायं मन्त्रो भूतपूर्व इति गम्यते ।

तदेवमेतैस्तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति किन्तु उच्चारणाददृष्टार्था एव इति पूर्वपक्षः ।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०) इति ।

'तु' शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति । क्रियाकारक-सम्बन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः । तथा सति यथा लोके अर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्य्यते तथा वैदिके यागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम् । मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः । तस्मान् मन्त्रोच्चारणस्य अर्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम् ।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्यारभ्य 'त्रैष्टुवेन त्वा छन्दसा ददे (तै० सं० ४।१।१।३-४) इति मन्त्र आम्नातः । तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्र्यादाने, पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१।४) इनि विधीयते । (श० ब्रा० ६।३।१।३९) । तदेतद विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१) इति मन्त्रेण प्रतीतस्यैव अर्थस्य

ब्राह्मणे यत् पुनःश्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षणगुणविधानार्थत्वेन उपयुज्यते। एतस्य विधानस्य अभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभिरादीयेत।

ननु 'इमामगृभ्ण रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं (श० ब्रा० १३।१।८।१) विनियोजकमाम्नायते। तदेतत् त्वन्मते व्यर्थमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परिसंख्या'[1] (जै० १।२।४२) इति।

'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या। तदर्थमिदं ब्राह्मणवाक्यम्।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—'आदत्ते' इति शब्दो रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात्। तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत, रशनात्वसामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं बाध्येत इति त्रयो दोषाः। मैवम्, गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वाद्। तथा हि—तत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्य्यादिति वाक्यं परिकल्प्यते। तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्बन्धे सिद्धे सति पश्चात् किंविषयकमादानमिति वीक्षायां लिङ्गाद् रशनामात्रस्य आदानमुपेत्य गर्दभरशनायाः प्राप्तिर्वक्तव्या। सा च विलम्ब्यते। 'इति अश्वाभिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्बन्धे सति लिङ्गाद्रशनामात्रे प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्या विशेषे व्यवस्थाप्यते। ततो मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वाद् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान् नास्ति प्राप्तबाधः। अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते। तत्र कुतो दोषत्रयम्? ईदृशम् अप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम्।

'ननु 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३) इति।

वाशब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति तेन अर्थवादेन सम्बन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते।

ननु प्रथयति इत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथनमनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिना

---

1. **परिसंख्यालक्षणम्—**

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति कीर्त्यते॥

परिसंख्यादोषाः—

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा॥

अर्थवादेन स्तोतव्यम् । तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'मन्त्राभिधानात्' इति । अध्वर्य्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवमभिधत्ते । तस्मादभिधानाद् अध्वर्युकर्त्तृकं प्रथनं प्राप्तम् । यथा, लोके यः कुरु इति ब्रूते स कारयत्येव, तथा अत्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते स प्रथयत्येव[1] ।

यदुक्तम्, 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति पाठक्रमनियमाद् अदृष्टार्थो मन्त्र इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'अविरुद्धं परम्' (जै० १।२।४४) इति ।

परं द्वितीयसूत्रोक्तमस्मत्पक्षेऽपि अवरुद्धम् । न हि वयं पाठक्रमनियमाद् अदृष्टं निवारयामः किं तर्हि ? मन्त्रोच्चारेण जायमानमर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वात् न उपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः ।

ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वा० सं० १।२८) इति मन्त्रो बुद्धमेव अर्थं शास्ति तद् अयुक्तम् । सोपानत्कस्य उपानदन्तरासम्भवात् इत्युक्तमिति चेत् ? तस्य परिहारं सूत्रयति—

'संप्रैषकर्म्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' (जै० १।२।४५) इति ।

संप्रैषकर्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो न उपलभ्यते । बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैव अनुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात् ।

यच्चोक्तं, 'चत्वारि शृङ्गाः' (ऋ० सं० ४।५८।३) इति मन्त्रो असन्तमेव अर्थमभिधत्त इति तस्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६) इति ।

अन्तोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या । तद् यथा—चत्वारो होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणोऽस्य कर्म्मणः शृङ्गाणि, प्रातःसवनादयस्त्रयः पादाः, पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि हस्ताः, ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम् । कामान् वर्षति इति वृषभः, रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति, महो देवः सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो देवः मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एव अत्राधिकारिणः । लोकेऽपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते—'चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात् । एवम् 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्याद्यचेतनसम्बोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि । यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्त्ता त्रायते इति किमु वक्तव्यम् । तथा ग्रावा-

---

1. 'ननु नायं मन्त्रस्य वाक्यशेषः, न च प्राप्तस्य स्तुत्या प्रयोजनम् ? सत्यम् , नायं मन्त्रस्य विधिः, न संस्तवः; प्रथनमेव तत्र स्तूयते; मन्त्रः पुनः रूपादेव प्राप्त इहानूद्यते प्रथनं स्तोतुम् । इत्थं प्रथनं प्रशस्तं, यत् क्रियमाणमेवंरूपेण मन्त्रेण क्रियते । कस्तदा भवति गुणाः ? यज्ञपतिमेव तत् प्रजया पशुभिः प्रथयति । किमेतावदेवास्य फलं भवति ? नेति ब्रूमः । स्तुतिः फलं भविष्यतीति एवमुच्यते । कथमसति प्रथने प्रथयतीति शब्दः ? मन्त्राभिधानात्' । इति तत्रत्यं शाबरभाष्यम् ।

णोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यादि आमन्त्रणाभिप्रायः।

योऽपि, 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८।६।१०) इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्य उत्तरं सूत्रयति––

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७) इति।

यथा 'त्वमेव पिता त्वमेव माता' इत्यत्र गौणप्रयोगाद् अविरोधस्तद्वत्। एवमेकरुद्रदेवत्ये कर्म्मणि एको रुद्रः शतरुद्रदेवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोधः।

यदप्युक्तं, स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकायाः अवहृतिं न प्रकाशयितुमिच्छतीति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्यावचनमसंयोगात्' (जै० १।२-४८) इति।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते। न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः, नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति, अतो यज्ञानुपकारात् न तत्र अर्थविवक्षा।

यदप्युक्तं, 'अम्यक् सा त इन्द्र', 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादौ अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थ इति तत्र उत्तरं सूत्रयति––

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४९) इति।

विद्यमान एव अर्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते। तेषां निगम-निरुक्त-व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः। तद् यथा––'जर्जरी तुर्फरीतू' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि; तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते। आश्विनं चेदं सूक्तम, 'अश्विनोः काममप्राः' (ऋ० सं० १०।१०।६।११) इति दर्शनात्। एतदेव अभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे 'जर्भरी भर्त्तारौ इत्यर्थः' 'तूर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः' (नि० १३।५) इति। एवम् 'अम्यक्सा ते' इत्यादावपि उन्नेयम्।

यदप्युक्तं, प्रमगन्दाद्य (ऋ० ३।५३।१४) नित्यार्थसंयोगान् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्याद् इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'उक्तश्च अनित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०) इति।

प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्त परिहृतः। तथा हि––तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं, कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धाभिधानं हेतूकृत्य—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० सू० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रिम्।

तस्यायमर्थः––'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनाद् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति, तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्–'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० सू० १।१।३१) इति। तस्यायमर्थः–यत् काठकादिसमाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यमात्रम्। न तु तत्र अनित्यो

बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किन्तु बबरः इति शब्दानुकृतिः । तथा सति बबर इति शब्दं कुर्व्वन् वायुरभिधीयते; स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः । एवमन्यत्रापि ऊहनीयम् । तदेवं कस्यचिदपि दोषस्य असम्भवाद् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः ।

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति युक्तिमात्रम् इदमुच्यते । न तु एतदुपोद्बलकं किञ्चिच्छ्रौतं लिङ्गं पश्यामः इत्याशंक्य उत्तरं सूत्रयति—

'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१) इति ।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' इति श्रूयते । तस्यायमर्थः—अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयम् आग्नेयी, तया आग्नीध्रस्थानम् उपतिष्ठेत इति । अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् ब्राह्मणम् 'अग्ने नय' (ऋ० सं० १।१८९।१ इत्यनया 'उपतिष्ठेत'इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किन्तु आग्नेयीत्वलिङ्गेन उपदिशति । यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा यस्या ऋचोऽग्निर्देवता भवति । तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धितान्तनिर्देश उपपद्यते । तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यार्थवदिति बोधयति । अतो विवक्षितार्थत्वाद् अर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम् ।

तस्मिन् एव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'ऊहः' (जै० १।२।५२) इति ।

प्रकृतावाम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तरस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः । तद् यथा—'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता' (तै० ब्रा० ३।६।६।१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः (मै० सं० ४।१३।४) तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इत्यूहः । पशुबहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्त्तव्यः । एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'न माता वर्द्धते न पिता' इति । तत्रेदं चिन्तनीयम्, किमत्र शरीरवृद्धिनिषिध्यते, आहोस्विच्छब्दवृद्धिरिति । एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातराविति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः । तत्र न तावच्छरीरवृद्धिनिषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौमारयौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात् । अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते । मातृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एनमिति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति । तत्र यद्यर्थो न विवक्ष्येत तदा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुबहुत्वे बहुवचनं च कथमूह्येत ? तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः ।

तस्मिन् एव अर्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'विधिशब्दाच्च' (जै० १।२।५३) इति ।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इति उच्यते। स चैवमाम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्म इत्येव एतदाह' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इति। तत्र 'शतं हिमा' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु यस्य तात्पर्यव्याख्यानम्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्य्यं मन्त्रे व्याख्यायेत। तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थ-प्रकाशनायैव उच्चारयितव्याः।

तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः।
न, तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः॥(जै०न्या०१।३।४) इति

ननु अस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते। तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्चेति। तथा च आपस्तम्बः—'कर्म्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप० परि० ३४-३५) इति। विधिरपि द्विविधः, अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनञ्चेति। 'आग्ना-वैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्याद्याः कर्म-काण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्'–(ऐ० आ० २।४।१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः। तत्र कर्म्मकाण्ड-गतानां 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५।४।३।२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम्; प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात्। अयोग्यत्वं च वाक्यशेषे समाम्नातम्–'अना-हुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तै० सं० ५।४।३।२) इति। तत्र हि आरण्य-तिलानाम् आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम्। तस्माद् बाधितो जर्त्तिलादिविधिरप्रमाणम्। एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु, 'तत्तन्नादृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'तत्तथा न कार्य्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८।६) इति वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः। अपि च ऐतरेयब्राह्मणेऽनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा–'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३१) इति असकृद् निग-दितम्। तैत्तिरीयाश्च तथैव आमनन्ति—'यदनुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद् उभय-मेवाग्नेयꣳस्यादुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२।७) इति। पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति—यदुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद' यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्य्यꣳहरन्ति। तादृगेव तद्' (तै० ब्रा० २।१।२। १२) इति। तथैव, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनु-ष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुप-लम्भोऽस्ति। तस्मात् कर्म्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसम्पादम्।

अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधान् नास्ति प्रामाण्यम्—— 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१)। 'असद् वा इदमग्र आसीद्' (तै० आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः । सोऽयं विरोधः । तस्माद् वेदे विधिभागः सर्व्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः——

अस्तु एवं जर्त्तिलादिविधेरप्रामाण्यं, तदर्थस्य अननुष्ठेयत्वात् । अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४।३।२) इति वाक्ये विधीयते । तत्प्रशंसार्थमत्र जर्त्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते । यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम्, 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९।४) इति वाक्येन अर्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत् । एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्त्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचिच्छाखान्तरे भवेदिति चेत् ? भवतु नाम, प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति । यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत् । अनेन न्यायेन सर्व्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ । यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत् । तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति । वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नामनन्ति (वा० सं० १।१) । प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३) । तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति—— 'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्' (तै० सं० २।६।९।६) इति निराकरणम् । 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयाद्' इति पाठान्तरोपदेशः[1] । तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था । तद्वद् विधिषु द्रष्टव्यम् । षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते । पूर्व्वमीमांसायां दशमाध्यायस्य अष्टमपादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जै० सू० १०।८।६) । द्वितीयस्य अध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिद्ध्यर्थमपूर्व्वं निर्णीतम् (जै०सू०२।१।५) । तद्वद् उत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थे पादे, 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्र० सू० १।४।१४)[2] इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता । द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे तु 'असद्व्यपदेशान्नेति चेत्, न, धर्म्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्र० सू०

---

१. 'यदा पुरुषो म्रियते तदा पर्य्यङ्कशङ्कशयनादिपरित्यागेन इमां भूमिमुपेत्यवसानं गच्छति, तस्मात्तादृशस्यार्थस्य सूचके उपावसानशब्दे प्रयुक्तेसति मरणशीलो भवति । भूमिविषयकेण स्वधिचरणेतिशब्देन गोप्रचारभूमिं काम्रितवान् भवति ।'

२. 'सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेषु आकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किञ्चिद् विगानमस्ति । कुतः ? यथाव्यपदिष्टोक्तेः । यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टः, तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते' इति तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम् ।

२।१।१७)[1] इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वं किन्तु अव्यक्तावस्थापरत्वमिति निर्णीतम्। जैमिनिश्चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्-प्रामाण्यं समर्थयामास। व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय, 'तत्तु समन्वयाद्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास। तस्माद् अमीमांसकस्य तव पूर्व्वोक्त-स्थाण्वन्धन्यायो दुष्परिहरः। अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम्।

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास। तत्-सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते (जै० सू० १।२।१।१८)। तत्र पूर्व्वपक्षं सूत्रयति—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते (जै० १।२।१) इति। आम्नायस्य सर्व्वस्य क्रियाप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वाद् अक्रिया-प्रतिपादकानाम् अर्थवादानां नास्ति कश्चिद् विवक्षितः स्वार्थः। ते च अर्थ-वादा एवमाम्नायन्ते'—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१)। 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४), 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तै० सं० ६।१।५।१) इति। यस्मा-दीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति तस्मादिदं वाक्यमनित्य-मुच्यते। यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेण अनित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्म्माव-बोधनलक्षणस्य नित्यकार्य्यस्य अभावाद् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वाद-प्रमाणमित्यर्थः।

ननु, उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्म्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु, तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतः प्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वाद् इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तत्दृष्टान्तेन सर्व्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै० १।२।२) इति।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधो अर्थवादेषु उपलभ्यते। तथा हि, 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्य्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम्।

---

१. 'नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्यासद्व्यपदेशः। किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्माद्व्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरम्। तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्य्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य। कथमेतदवगम्यते ?–वाक्यशेषात्, यदु-पक्रमे सन्दिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषादेव निश्चीयते। इह च तावद् असदेवेदमग्र आसीद् इत्य-सच्छब्देन उपक्रमे निर्दिष्टं यत् तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि तत् सदासीदिति,⋯ ⋯असद् वा इदमग्र आसीदित्यत्रापि तदात्मानं स्वयमकुरुत इति वाक्य-शेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्, अतः प्राक् नामरूपव्याकरणाद् अस-दिवासीदित्युपचर्य्यते।' इति तत्रत्यं शाङ्करभाष्यम्।

'तस्माद् धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिस्तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।१३) इत्यत्र दृष्टविरोधः; तथा 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै० सं० १।४।११) इत्यत्रापि प्रत्यक्ष-विरोधः। 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः। 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि शास्त्रे आमुष्मिकं फलं दृश्यते। तस्माद् विरोधाद् अर्थवादानामप्रामाण्यम्।

ननु, 'सोऽरोदीद्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यादीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्याद् अस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--

'तथा फलाभावात्' (जै० १।२।३) इति।

तथा मानान्तरविरुद्धम् अर्थवादैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानं एव तैरुच्यते। तथा हि, गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते, 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६) इति; दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं० १।७।४।६) इति। न च वयं वेदितॄणां तत् फलमुपलभामहे।

ननु, ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादादप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफलवाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४) इति।

एवं हि श्रूयते--'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५) 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति'; 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) तत्र अग्न्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थकानि स्युः। तथा निरूढपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामानर्थक्यम्। अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात्। तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानमपि अप्रामाण्यम्।

ननु, मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्, तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--

'अभागिप्रतिषेधात्' (जै० १।२।५) इति।

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति, तत्र चयनप्रसङ्गस्यैव अभावात्। मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ६।१।१०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति।

बबरादिरूपेण अनित्येन अर्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वम् अभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत ।

किं बहुना ? सर्वथापि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यम् इति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः' (जै० १।२।७) इति ।

'तु'शब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यं वारयति । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्येवमादीनाम् अर्थवादानां 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वाद् अस्ति धर्मे प्रामाण्यम् । न च विधिवाक्यस्य अर्थवादनैरपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूर्तेस्तत्र अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति शङ्कनीयम् । ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिम् आकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्यर्थत्वेन उपयुक्ताः स्युः । स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषस्तत्र प्रवर्तते ।

ननु, अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्क्य आह—

'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्' (जै० १।२।८) इति ।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम् । तच्च विधीनामर्थवादानां च समानम् । तस्माद् विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति ।

ननु, शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य आह—

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत । (जै० १।२।९) इति ।

'स्तेनं मनः' इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिः प्राप्ता, प्रयोगस्य अनुक्तत्वात् । प्रयोगे हि स्तेयादीनाम् उच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्; न चात्र स्तेयं कर्तव्यमिति प्रयोग उच्यते, किन्तु स्तेयशब्दार्थ एव उच्यते । न च स्तेयशब्दार्थः प्रयोगभूतः । तस्माच्छब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावाद् अयमर्थवाद उपपन्न एव ।

ननु, 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात् । 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ता' (तै० सं० ५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते इति वैयधिकरण्यमित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति ।

'तु'शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति । गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः । यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव

भवतः । शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्य अनिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः ।

'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि-रोदनप्रसङ्गाद् 'वर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम् । तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः; तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरूपो विधिः स्तूयते । यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः सम्पद्यते ।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमा लभेत' (तै० सं० २।१।१४,५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते । तस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूंश्च लब्धवान् , तस्मात् प्रजादिसम्पादकोऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः ।

आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः 'दिशो न प्राजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते । यथेयम् अदितिर्देवता दिङ्मोहमपि अपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति, तथा बहुविधकर्मसमुदायरूपे सोमयागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवमदितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः । स्वकीयवपोत्खेदो देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथापि स्तुतिपरत्वम् अभ्युपगच्छताम् अस्माकम् न किञ्चिद् हीयते । 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादौ अविद्यमानेनापि अर्थेन लोके स्तुतिदर्शनात् ।

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रायात्' (जै० १।२।११) इति ।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' (मै० सं० ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुम् अयमर्थवाद उच्यते । यथा लोके, 'किमृषिणा देवदत्त एव पूजयितव्यः' इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं च उपन्यस्यते । तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीयः । यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः । प्रायेण वाग् अनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुणः । हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नापि अनृतबहुलः । अतो हस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते ।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै० १।२।१२) इति ।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहेति प्रातः' इत्यतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्माद् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्य्यमन्त्रः एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्माद् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्य्यमन्त्रश्च दिवा। इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किन्तु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वद् अत्रापि।

यद्यप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृतं, 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'स्त्र्यपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३) इति।

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० त० १।४।११) इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः। यदि यजमानो 'देवाः पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इत्यादि मन्त्रेण प्रवरम् अनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणेऽपि ब्राह्मणो भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः। 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते। यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तुरुत्पादयितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते। अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीयं जन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम्। अनेन अभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम्।

यद्यपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतं, 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा' इति। उत्तरं सूत्रयति—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य द्वारविधिः। तस्य शेषोऽयं, 'को हि तद् वेद' इति। धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते। स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम्। अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनं, न तु इदानीन्तनमित्यर्थः। तस्य ईप्सा प्राप्तुमिच्छा। सा च 'को हि तद् वेद' इति अनिश्चयोपन्यासे कारणम्। यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिर्भाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः। धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वान् निश्चित इत्यभिप्रायः।

यदप्यन्यत् दृष्टिविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता० म० ब्रा० २०।१६।६) इति। तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५) इति।

सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः। तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते। यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं भवति,

एवं वेदितुरुत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते। अतः शोभासादृश्यगुणयोगात् 'शोभते' इत्युच्यते।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इति सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः। अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्व्ववद् योजनीया। वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति, ततः प्रतिग्रहेण अन्नं प्राप्नोति। तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम्।

यदप्यन्यानर्थक्याय उदाहृतं, 'पूर्णाहुत्या सर्व्वान् कामान् अवाप्नोति' इति। तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'सर्व्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६) इति।

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्व्वकामावाप्तिहेतुत्वात् प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्व्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्व्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्। एवं पूर्णाहुत्या कर्म्मसाङ्गत्वे यत् फलं तस्मिन् अधिकारे प्रस्तावे सम्भावितं तद्विषयमेव सर्व्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म्म अङ्गविकलं भवति तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येकः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्निहोत्रादिकर्म्मसु योग्या भवन्ति। इत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्म्मभिस्तत् तत् फलं प्राप्यते इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्व्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते इति चेत् ? विद्यतां नाम। किं नश्छिन्नम् ? न खलु एतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिरस्ति।

ननु, पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवतु, 'द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (जै० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात्। पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्म्मविधायकत्वात् सर्व्वलोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वाद् अन्यानर्थक्यं दुर्वारम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्।' (जै० १।२।१७) इति।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते। तेषां च पृथिव्यादीनां फलानां कर्म्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं वा सम्पद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति आनर्थक्यम्।
सारत्वं वा सम्पद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति आनर्थक्यम्।
लोकवदित्युक्तार्थे दृष्टान्तः। यथा लोके निष्केण खारीपरिमितान् व्रीहीन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति; यथा वा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्म्मान्तरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणम्। कायिक्यास्तु महत्या अश्वमेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम्।

योऽपि, 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा 'बबरः प्रावहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम् । अन्तरिक्षादौ चयननिन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यस्य विधेः शेषः । अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव उत्तरम् । अन्तरिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु । तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वाद् । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बबरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किन्तु बबरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एव अर्थो विवक्षितः । इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम् ।

तस्मात् सम्भावितदोषाणां परिहृतत्वाद् अर्थवादानां अस्ति प्रामाण्यम् ।

तत्र संग्रहश्लोकाः—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता ।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते ।।
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात् ।
नास्त्येकवाक्यता धर्म्मे प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः ।।
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः ।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता ।।
(जै. न्या. मा. १।२।१) इति ।

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानाम् अप्रामाण्ये कारणाभावाद् बोधकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकाराच्च कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

वेदस्य पौरुषेयत्वनिरसनपुरःसरमपौरुषेयत्वसिद्धिः

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवद् अप्रामाण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वं च प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै. १।१।२७–३२) इति ।

एके वादिनो वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते । कालिदासादिभिर्निर्मितानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते; यथा रघुवंशादय इदानीन्तनास्तथा वेदा अपि । न तु वेदा अनादयः; अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते । वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वाद् वेदाः पौरुषेयाः ।

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वेन काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति––

'अनित्यदर्शनाच्च'। (जै० १।१।२८) इति।

अनित्या जननमरणवन्तो बबरादयो वेदे श्रूयन्ते––'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) इति। तथा सति बबरादिभ्यः पूर्व्वमभावाद् अनित्या वेदाः। विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवद् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः।

सिद्धान्तं सूत्रयति––

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९) इति।

'तु' शब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति। शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्य, पूर्व्वत्वम् अनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम्। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' (जै० सू० १।५) इत्यस्मिन् सूत्रे 'औत्पत्तिक' शब्देन सर्व्वेषां शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्बन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्तराभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात्[1]। का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य सम्प्रदायप्रवर्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं सूत्रयति––

'आख्या प्रवचनात्' (१।१।३०) इति।

अस्तु इयमाख्याया गतिः। ततः परं बबराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति––

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१) इति।

यद् परं बैबरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव। न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः। बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।

ननु, वेदे क्वचिदेवं श्रूयते, 'वनस्पतयः सत्त्रमासत' 'सर्पा सत्त्रमासत' इति। तत्र वनस्पतिनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वान् न तदनुष्ठानं सम्भवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि'[2] इत्याद्युन्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति––

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्म्मणः समत्वात्।' (जै० १।१।३२)इति।

---

१. अधिकरणलक्षणं––

विषयो विशयश्चेति पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्॥

२. जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकाम्या राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियते तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्; साध्यसाधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं। लौकिकविधिवाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ, किं, तेन, कथमित्याकाङ्क्षायां, तृप्तिमुद्दिश्य ओदनेन द्रव्येण, शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि, स्वर्गमुद्दिश्य सोमेन द्रव्येण दीक्षणीयाद्यङ्गोपकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्। वनस्पत्यादिसत्त्रवाक्यमपि न तत्सदृशम् तस्य सत्त्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्यम्, वनस्पत्यादिसत्त्रवाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा च अविद्यमानेनापि कर्त्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्त्रमनुष्ठितवन्तः किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणः इति सत्त्रस्तुतिः। 'च' कारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यत्वहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन पराहतिं समुच्चिनोति। तस्मान् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्।

अत्रैतौ संग्रहश्लोकौ—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्याद् पौरुषेयता।
काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥
समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु परातम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता। (जै०न्या०मा० १।१।८) इति

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्य्यत्वं सूत्रितम्, 'शास्त्रयोनित्वाद्' (वे० १।१।३) इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वाद् ब्रह्म सर्व्वज्ञमिति सूत्रार्थः। बाढम्। नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्। ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशादिवन् नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्, 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति। श्रुतिस्मृतौ चात्र भवतः—'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति श्रुतिः 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० भ० शां० २३२।२४) इति स्मृतिः[1]। तस्मात् कर्त्तृदोषशङ्काया अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम्।

मन्त्र, ब्राह्मणयोः स्वरूपनिर्णयः ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तम्, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्। मैवम्। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टमयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात्।

---

१. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये धृतम् (१-३-८२)

सप्तमाधिकरणमारचयति--

अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।
नास्त्यस्ति वास्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥
(जै० न्या० मा० २।१।७) इति ।

आधाने इदमाम्नायते--'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति । तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थाभिधायको मन्त्र इत्युक्ते । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वाद् अव्याप्तिः । मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः । एवमसिपदान्तो मंत्र उत्तमपुरुषान्तो मन्त्र इत्यादिलक्षणानां परस्परव्याप्तिरिति चेत् ? मैवम्; याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात् । तच्च समाख्यानम् अनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति, 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१)इत्यादयःस्तुतिरूपाः 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः । 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादयः आमन्त्रणोपेता । 'आग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरूपाः । 'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (ऋ०सं० १६।१२६।५) इत्यादयो विचाररूपाः । 'अम्बेअम्बाल्यम्बिके न मा नयति कश्चन' (तै० सं० ७।४।१६।१) इत्यादयः परिदेवनरूपाः । 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः । 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तररूपाः । एवमन्यदपि उदाहार्यम् । ईदृशेषु अत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत । लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः--

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥ इति ।

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम् ।

अष्टमाधिकरणमारचयति--

[1]नास्त्येतद्ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा ।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः ॥

१. 'एतद्ब्राह्मण्येव पञ्च हवींषी' त्यत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं किमपि नास्ति, अथवा विद्यते ? (संशयः) । इयन्तो वेदभागा इतिक्लृप्तेरभावाद् अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्निवारणमशक्यम्, अतो ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्तीति (पूर्व्वपक्षः) । वेदस्य द्वौ भागौ मन्त्रश्च ब्राह्मणञ्चेति, मन्त्रभागः पूर्व्वमुक्तः, अतस्तदतिरिक्तं ब्राह्मणमिति ब्राह्मणस्य लक्षणं भवेदिति (सिद्धान्तः) ।

मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः ।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(जै० न्या० मा० २।१।८) इति

चातुर्मास्येषु इदमाम्नायते, 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तै० ब्रा० १।७।१।१) इति । तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति । कुतः ? वेदभागानाम् इयत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेषु अन्यभागेषु च लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्योःशोधयितुमशक्यत्वात् । पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः । भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्त्तुं संगृहीतानि--

हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥ इति ।

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः, 'तद्दध्नो दधित्वम्'–(तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम् । 'अमेध्या वै माषाः' (तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१।१) इति प्रशंसा । 'तद्व्यचिकित्सज् जुहवानी३ माहौषा३म्' (तै० सं० ६।५।९।१) इति संशयः । 'यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) इति विधिः । 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः । 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः । 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेद्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना । एवम् अन्यदपि उदाहार्यम् ।

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमिति लक्षणम्, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्---'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः । 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३, अथर्व, ३।१३।४) इति निर्वचनम् । 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता'(ऋ०सं० १०।११७।६) इति निन्दा । 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इतिप्रशंसा । 'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति संशयः । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इति विधिः । 'सहस्रमयुता ददद्' (ऋ० सं० ८।२१।१८) इति परकृतिः । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० सं० १।१६४।५०) इति पुराकल्पः । इतिकरणबहुलम् ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।९।१४।३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रे(श० ब्रा० १३।१।५।६)अतिव्याप्तेः 'इत्याह' इत्यनेन वाक्येन उपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत् ? न, 'राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह,' (ऋ० सं० ७।४१।२) 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' (ऋ० सं० ७।१०४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः । आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० १०।१०) अतिव्याप्तेः ।

तस्मान् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः---मन्त्रब्राह्मणरूपौ

द्वावेव वेदभागावित्यङ्गीकारान्मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वाद् अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'

'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० २।१।३२-३३) इति।

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायविद्भिर्व्यवह्रियते—'मन्त्रानधीमहे' इति। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः।

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे, मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९) इति, मैवम्, विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेव इतिहासादीनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (तै० सं० ५।३।११।१) इत्यादय इतिहासाः। 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्' (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। कल्पस्तु आरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—'इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्द्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्,' (तै० आ० १।३१।१) इति। अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः। मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादिका ऋचो नाराशंस्यः। तस्मान् मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावान् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकत्वं वेदस्य सुस्थितम्।

लक्षणपूर्वकं मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन् एव पादे इत्थं विचारितः।
मन्त्राणां त्रैविध्य- नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्कितेः।
विचारः पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः॥
(जै० न्या० २।१।१०) इति।

इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। 'ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।१२६) इति। त्रीन वेदान् विदन्ति इति त्रिविदः, त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः। ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना। तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति, कुतः? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति हि लक्षणं वक्तव्यम्। तच्च सङ्कीर्णम्। 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तै० ब्रा० ३।२।५।३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत् साम गायन्नास्ते' (तै० आ० ९।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदे गीतम्। अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि।

तथा, गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मान् नास्ति लक्षणमिति चेत्, न, पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात् । पादेन अर्थेन चोपेतावृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठितमन्त्रा यजूंषि—इत्युक्ते न क्वापि सङ्करः । तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितम्——

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'

'गीतिषु सामाख्या'

'शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।३५-३७) इति ।

एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं सम्पन्नम् ।

फलचिन्तनपूर्वकं वेदाध्ययनस्येतिकर्तव्यतया निर्देशः

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्त्तव्यम् । तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति——

'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति ।

एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरम्पराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' (तै० आ० २।१५) इति 'स्व' शब्द आम्नातः । तच्चाऽध्ययनं न काम्यं किन्तु नित्यम् । अत एव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात् ।' इति ।

पातित्यञ्चैवमाम्नायते,—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्, तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता यस्तित्याज सखिविदं सखायम्, न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति । यदीं शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थानमिति । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥' (तै० आ २।१५) इति ।

अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रयासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखिविद् वेदः । बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्य अध्ययनमात्रेण सम्पादनं तत्पालनम् । तदपि आम्नायते——

'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति ।

यद्यपि एतद् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासम्भवात् तदीयफलमपि सम्पद्यते । ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमान् अध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति, फलं भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम् । सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकलहादिहेतुं लौकिकीं वार्त्तां सर्व्वत्रोच्चारयतः स्पष्टः एव वाचि भाग्याभाव, । अत एवाम्नायते——

'नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।'

(बृ० उ० ४।४।२१) इति ।

यद्यप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणं तेन सुकृत मार्गज्ञानाभावादित्यर्थः ।

स्मृतिरपि—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। (मनु० २।१६८) इति ।

एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्र उदाहर्त्तव्यानि ।

ननु, अधीते वेदे पश्चात् अध्ययनविध्यर्थ ज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चाद् अध्ययनप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति चेत् ? बाढम्; अत एव गुरुमतानुसारिण आचार्य्यकर्तृकाध्यापनेन प्रवृत्तियुक्तिं माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन सम्पादयन्ति। मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव सन्ध्यावन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविज्ञानं वर्णयन्ति। यद्य-ध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः, सर्वथापि उपनीतैरध्येतव्य एव वेदः। तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वम् अक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्। तानि सूत्राणि तद्वृत्तिं च उदाहरामः—

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात् । इति ।

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनाद् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थ-मवगन्तव्यम्। अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत् ? तत्राह—

'घृतकूल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा ।' इति ।

[1]ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकूल्यादिकं रात्रिसत्रन्यायेन[2] फलत्वेन कल्पनीयम्। ये तु अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तैर्विश्वजिन्न्यायेन[3] स्वर्गः कल्पनीयः। दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः सम्भवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह—

'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती ।' इति ।

---

१. 'यदृचोऽधीते पयसः कूल्यास्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति; यद् यजूंषि घृतस्य कूल्या, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्या'-(तै० आ० २-१०)

२. रात्रिसत्रन्यायः—रात्रिसत्रविधेः फलं न श्रुतम्, परं तस्य स्तावकेऽर्थवादे फलं श्रूयते—'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता रात्रीरुपयन्ति' इति, 'ब्रह्मवर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति' इति च (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् २३-१४-७)। एतदार्थ-वादिकं फलं प्रत्यासन्नत्वाद् रात्रिसत्रविधेः फलत्वेन कल्पनीयम्। मी० ४ ।३। १७-१९।

३. विश्वजिन्न्यायः—'विश्वजिता (यागेन) यजेत' इत्याम्नायते। परमत्र किमपि फलं न श्रूयते; किमपि फलमवश्यं कल्पनीयं, यतो भावना भाव्यमपेक्षते। विश्वजिन्नाम्ना यागेन किं कुर्यादित्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः, अन्यथा निरधिकारत्वाद् अनुष्ठाने विधिर्निरर्थकः स्यात्। स्वर्गस्य दुःखमिश्रितत्वाभावान्निरतिशयसुखत्वाच्च सर्व्वपुरुषाणामिष्टत्वात् स्वर्ग एव विश्वजितः फलम्। मी० ४ । ३ । १५-१६ ।

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत्' इति ।

सिद्धान्तयति—

'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः' इति ।

यथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फलवदर्थावबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्यवसानोऽवगन्तव्यः ।

ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थावबोधप्रयुक्तं चेत् तर्हि तद्बोधस्य मुख्यपुरुषार्थत्वाद् बोधान्त एव विधिः किं न स्यादित्यत आह—

'फलवद् बोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्र्न्यम्' इति ।

बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् [1]बृहस्पतिसवादौ अधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात्, न तु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् ।

स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति ।

न च अबोधकत्वे अर्थाबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्, प्रमाणस्य प्रमेयबोधकत्वस्वाभाव्यात्, लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिं बोधकत्वदर्शनादित्याह—

'लोकवन्नैजो बोधः' इति ।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्षब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य काम्यत्वं दूषयति—

'सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः' इति ।

बोध्यस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् सन्ध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः । अभाने कामयितुमशक्यः, ज्ञाते एव विषये कामतानियमात् ।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा सम्भवति । यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशाद् अवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थावबोधमुद्दिश्य अध्ययनविधानं न सम्भवति इत्याह—

'उद्देशायोगात्' इति ।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्ध्या विशेषाकारेण उद्देशः सम्भवति, अनन्तत्वात्; सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात्, न तु ज्ञानविशेषः । ततो नोद्देशो युक्तः ।

(१) 'यः पुरोधाः स्यात् स बृहस्पतिसवेन यजेत'—तै० आ० २।७।१

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न स्यादित्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यति इत्याह—

'तात्पर्यं शब्दात्' इति।

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्याद् इति चेत्, न, पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वाद्—

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति।

ननु अध्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारकशास्त्रं न प्रवर्तेत, प्रयोजकाभावादित्याशङ्क्याह—

'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति।

क्रतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनाद् आपातप्रतिपन्नां विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतुविचारं प्रयोजयन्ति। श्रवणविधिस्तु[1] साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते। एवं च सति, श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयोपकारिप्रयोजकत्वम् इत्युपपद्यतेतराम्। अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु, तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत।

ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत् प्रयुक्तौ विचारस्यापि तल्लभ्येत, नान्यथेति चेत्? क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य? तत्राद्योऽस्मन्मतेऽपि सम इत्याह—

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः।

द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' इति।

नित्य इत्यनुषङ्गः।

ननु उक्तनीत्या अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात्? मैवम्, वाक्यान्तरेण तद्विधानात्—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति (महाभाष्य पस्पशाह्निके) तद्विधिः। तत्र निष्कारणशब्दे अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते।

मन्त्रप्रतिपाद्या अवेदार्थज्ञस्य निन्दा वेदार्थस्य प्रशंसा च

अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क (नि० १।१८) एवमुदाजहार।

'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

---

१. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' बृह० उप० २।४।५

ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा' इति अस्या-यमर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्य उपमा उच्यते। उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति। यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां मलिनवासास्तथापि सम्भोगकालेषु कल्याणवासा भवति। तत्र हेतुः। काम-यमाना ऋतुकालेषु। इति यथा स पतिरेनां जायां साकल्येन आदरयुक्तः पश्यति, किञ्च तयोक्तमर्थं हितबुद्ध्या शृणोति, तथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरि-शीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्ध्या स्वीकरोति। सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य प्रशंसा। इति।

पुनरपि ऋगन्तरं यास्क (निरु० १।२०) उदाजहार—'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥'
(ऋ० सं० १०।७१।५) इति।

अयमर्थः। पूर्वोदाहृतायाः 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्त-रमेवा आम्नाता काचिद् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय सम्प-द्यते। तमर्थम् अतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति। कथमिति चेत्? तदु-च्यते। अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः, अभिज्ञाः कथयन्ति। 'सखि-विदं सखायम्' (तै० आ० २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम्। यद् वा स्वर्गलोके वेदानां सख्ये स्थित्वा अतिशयेन पीतामृतमाहुः। वाचामिना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः। तेषु मध्येऽपि एनं वेदार्थकुशलं चोद-यितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति। तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्। यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति। पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्। यथा लोके पुष्पं फलस्य उत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानम् अनुष्ठानद्वारा फला-त्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन (बृह० उप० ४।४।२२) इति श्रुतेः। यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः, 'यत् पूर्णानन्दैकबोधस्त ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति' (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः। तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एव पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति। नवप्रसूतिका क्षीरस्य दोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वाद् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते। पाठमात्रपरं प्रति देवरूपा वाग्धर्म-ज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः अत एवासौ माया कपटरूपा, ऐन्द्र-जालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वात्। तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः। इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चितत्वात्।

यच्च स्तूयते तद् विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः ।

किञ्च, नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेव आम्नायते—'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः, एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति । अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते । अनेन न्यायेन सर्वेष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः ।

ननु 'विद्याप्रशंसो' (जै० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसारूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत् ? अस्तु नाम । विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात् । दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य च अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपां वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं० २।२।५।४) इति । एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता ।।
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा ।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा ।।

(बृ० उ० वा० १२७–१२८) इति । न च वेदमात्रेण फलसिद्धौ अनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फलभूयस्त्वेन परिहृतत्वात् ।

उदाहृतश्चात्र जैमिनिसूत्रम्—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात् । (जै० सू० १।२।१७) इति ।

एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम् ।

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानाद् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० उप० १।१।१०) इति । यद्यप्यङ्गावबद्धोपास्तिरत्र विद्याशब्देन विवक्षिता, तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः ।

कुतस्तव एतावती वेदने भक्तिरिति चेत् ? कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः । प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता, निन्दा तु न क्वापि उपलभामहे । किन्तु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यमपि अपूर्वं गच्छति । तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (श० ब्रा० १४। ७। २। ३। बृह० उप ४। ४। २)

इति। तस्माद् अध्ययनवद् अर्थज्ञानस्यापि विहितत्वाद् अर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः।

वेदस्य विषयप्रयोजनाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य निरूपणम्

विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावाद विषयादयो निरूप्यन्ते—व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः। तदर्थज्ञानं प्रयोजनम्। व्याख्यान-व्याख्येयभावः सम्बन्धः। ज्ञानार्थी चाधिकारी। यद्यपि एतावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात्। अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात्। तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इति। जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे, चोदनैव धर्मे प्रमाणं, चोदना प्रमाणमेव इति नियमद्वयं सम्प्रदायविद्भिरभिहितम्। चोदनैव इत्यमुमर्थम् उपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वाद्' (जै० सू० १।१।४) इति।

अनुष्ठानादूर्ध्वम् उत्पत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वान् न प्रत्यक्ष-योग्यता अस्ति। उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्यान् न इन्द्रियैरवगम्यते। अत एव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते। लिङ्गराहित्यान् न अनुमानविषत्व-मप्यस्ति। सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत्? बाढम् अयमपि लिङ्ग-लिङ्गिभावो वेदेनैव गम्यते। ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम्।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्। शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म अधिगम्यते इत्यभिप्रायः (ब्र० सू० शां० भा० १।१।३) इति। श्रुतिश्च भवति,—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति। तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—रूपलिङ्गादिराहित्यान् नास्य मानान्तर-योग्यता' (वै० व्या० १।१।३।१८) इति। तस्माद् अनन्यलभ्यत्वाद् अस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्।

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम्। न च तस्य ज्ञानस्य, सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छति, इत्यादिज्ञानवद् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयं धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात्। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति। उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वाद् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवज्जय-हेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः। तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति-'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात् परं नास्ति अथोऽबलीयान् बलीयांशमाशंते धर्मेण, यथा राज्ञैवम्' (बृह० उप० १।४।१४) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', (तै० आ० ८।१), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति',

३।२।९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उप० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थं प्रसिद्धः। तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी। स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदे अधिकारः प्रतिबद्धः। धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेन उत्पद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञाने अधिकारः।

सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, तदीयज्ञानेन सह जन्यजनकभावः, त्रैवर्णिकपुरुषैः सह उपकार्योपकारकभावः। तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम्।

अपरविद्यारूपाणां वेदस्य षडङ्गानां समुद्देशः

अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। अतएव तेषाम् अपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषदि आथर्वणिका आमनन्ति—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यथा तदक्षरमधिगम्यते' (मुण्ड० उ० १।१।४।५) इति। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानाम् अपरविद्यात्वम्। परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वाद् उपनिषदां परविद्यात्वम्।

वेदाङ्गभूतायाः शिक्षाया लक्षणप्रयोजनपुरःसरं सम्यङ्निरूपणम्

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा। तथा च तैत्तरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति—'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः' (तै० उ० १।१) इति। वर्णोऽकारादिः। स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः—

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वतं प्रोक्ता स्वयम्भुवा॥'
(पा० शि० ३) इत्यादिना।

स्वर उदात्तादिः। सोऽपि तत्रोक्तः—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।' (पा० शि० ११)। इति। मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्र उक्ता—

'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि।' (पा० शि० ११)। इति।

बलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० ११)। इत्यादिना स्थानमुक्तम्। 'अचोऽस्पृष्टा, यणस्त्वीषद्' (पा० शि० ३८)। इत्यादिना प्रयत्न उक्तः—

सामशब्देन साम्यमुक्तम्, अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन उच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' (पा०

शि० ३२) इत्यादिना, 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' (पा० शि० ३५) इत्यादिना च दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः।

सन्तानः संहिता—'वायवायाहि' (ऋ० सं० १।२।१) इत्यत्रावादेशः, 'इन्द्राग्नी आगतम्' (ऋ० सं० ३।१२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायाम् उपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥'
(पा० शि० ५२)

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० अ० ६।१।२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वाद् अन्तोदात्तेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः, तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वाद् इन्द्रो घातको यस्य इत्यर्थः सम्पन्नः। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः।

कल्पस्योपयोगव्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं निरूपणम्

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रम्, कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति व्युत्पत्तेः।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः, किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य। नाद्यः, 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आ० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात्; 'न हि अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद् विनियुक्ताः। न द्वितीयः, 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐत० ब्रा० १।१) इत्येवं दीक्षणीयेष्टेर्ब्राह्मणे प्रकान्तत्वात्

अत्रोच्यते। मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः—'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञ' (तै० आ० २।१०) इति। सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपोऽग्निमीळ इत्याम्नायक्रमेणैव अनुष्ठेयः। तथा, सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि 'वाचःस्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते। तथा आश्विने सस्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयाद्' (आप० श्रौतसूत्र १४।१।२) इति विधीयते, तथा 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति, याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्। इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु सम्प्रदायपारम्पर्यागत एव क्रम आदरणीयः।

विशेषविनियोगास्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणानि उप-

जीव्य आश्वलायनो दर्शयति। अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद् विरोधः ।

'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैव आम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः आम्नन्तत्वादेव जपादिषु अपि स एव क्रमः । यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता तथापि तस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वाद् आश्वलायनस्य आदौ तद्व्याख्यानं युक्तम् । अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति ।

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० स० ३।२७।१) इत्यादिनां सामिधेनीनाम ऋचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु; 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते (आश्व० सूत्र १।२) इति चेत् ? नायं दोषः, शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेन अत्र वक्तव्यत्वात्; सर्वशाखा-प्रत्ययमेकं कर्म इति न्यायविदः । तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः ।

व्याकरणस्य लक्षणनिर्देशमुखेन प्रयोजनविशेषाणां वररुचिपतञ्जलिप्रदर्शितदिशा सम्यग्विविच्य विस्तरशः प्रतिपादनम् ।

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयाय उपयुज्यते । तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे । समाम्नायते—'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमनुब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽब्रवीद्, वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽव क्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३) इति । अग्निमीळे पुरोहितमित्यादिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सत्यव्याकृता, प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत् । तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन् एव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टस्तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्र अकरोत् । तस्मादियं वाग् इदानीमपि पाणिन्यादिमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः ।

तस्य एतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति । एतानि रक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तरणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि (महाभाष्यस्य पस्पशाह्निके) । रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति । ऊहः खल्वपि ; न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः; ते च अवश्यं यज्ञाङ्गत्वेन यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्; तस्मादध्येयं व्याकरणम् । आगमः खल्वपि; 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति । प्रधानञ्च षट्सु अङ्गेषु

व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम; बृहस्पतिश्च वक्ता, इन्द्रश्च अध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रम् अध्ययनकालः, अन्तं च न जगाम। अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति। तव कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः; कुतस्तरां प्रयोगेण? असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्; याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत इति। तत्र, न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती, किं वा स्थूला चासौ पृषतीति। तान् नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः, अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः, यदधीतम्, यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवोऽसि वरुण इति।

तेऽसुराः—

तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

दुष्टः शब्दः—

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥'
(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीति अध्येयं व्याकरणम्।

यदधीतम्—

'यदधीतमविज्ञातं[1] निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महि इति अध्येयं व्याकरणम्।

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः[2]॥

कः? वाग्योगविदेव। यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दान् अप्यसौ जानाति। तथैव शब्दज्ञाने धर्मः एवमपशब्दज्ञानेऽपि अधर्मः प्राप्नोति।

१. यदधीतमित्यस्य स्थाने निरुक्ते (१।६।१) 'यद्गृहीतमिति' पाठो दृश्यते।
२. कात्यायनोक्तभ्राजाख्यश्लोकमध्ये पठितः।

भूयांसो हि अपशब्दा अल्पीयांसः ; एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः ; यथा—गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयः । अथ योऽवाग्योगविद् अज्ञानं तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । न अत्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो हि अजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि कः ? अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद् ज्ञानं तस्य शरणम् ।

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ।।

स्त्रीवन् मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति, 'प्रयाजाः[1] सविभक्तिकाः कार्याः' इति । न च अन्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

यो वा इमाम्—

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति ।

आर्त्विजीनाः स्याम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

चत्वारि—

[2]चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

(ऋ० सं० ४।५८।३)

चत्वारि शृङ्गा, चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च । सप्त-

---

१. प्रयाजमन्त्रा उह्यमानाग्निशब्दप्रकृतिकविभक्तियुक्ता इत्यर्थः । यथा—समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्न' इति कैयटः ।

२. गूढार्थाभिसम्पन्नोऽयं मन्त्रः स्वशास्त्रानुकूलं विविधविधं व्याख्यातो विभिन्नः शास्त्रकृद्भिः । तत्र महादेवात्मकस्य शब्दस्य स्वरूपवर्णनमिति भगवान् पतञ्जलिः । काव्यपुरुषस्य स्वरूपवर्णनेति कविशेखरो राजशेखरः (काव्यमीमांसाया द्वितीयाध्याये) । यज्ञपुरुषस्य नियतस्वरूपप्रतिपादनमिति निरुक्तिभास्करो यास्कः (निरुक्त-परिशिष्टे १३।७) । पातञ्जलं मतमुपरिष्टात् वर्णितमेव । राजशेखरमतं तु काव्यमीमांसायामवलोकनीयम् । निरुक्तकारस्याभिप्रायस्तु निरुक्तपरिशिष्टतो (१३।७) ज्ञेयः । मन्त्रस्यास्य व्याख्यानावसरे सायणाचार्या एवमाहुः—यद्यपि सूक्तस्यास्याग्निसूर्यादि पञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधाऽयं मन्त्रो व्याख्येयः, तथापि निरुक्ताद्युक्तनीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशत्वेन तत्परतया व्याख्यायते । शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया व्याचक्षते । अपरे तु अपरथा । इति ।

हस्तासः सप्तविभक्तयः त्रिधा बद्धः, त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसि च वृषभो वर्षणात् कामानाम्। रोरवीति, रौतिः, शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्या आविवेश। महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

अथवा, चत्वारि—

[1]चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० सं० १।१६४।४५)

ये मनीषिणः, मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमीषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते।

उत त्वः—

[2]उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥
(ऋ० सं० १०।७१।४)

अपि खलु एकः पश्यन् अपि न पश्यति शृण्वन् अपि न शृणोति एनाम्। अविद्वांसमाह अर्द्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे, तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाग् वाग्विदे स्वम् आत्मानं विवणुते। वाक् स्वं नो विवृणुयादित्यध्येयं व्याकरणम्।

सक्तुमिव—

[3]सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
(ऋ० सं० १०।७१।२)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति; ततवत् वा तुन्नवद् वा। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते अत्र सखायः सख्यानि सञ्जानते सायुज्यानि जानते। क्व? एष दुर्गमो

---

१. निरुक्तपरिशिष्टे मन्त्रस्यास्य व्याख्यायां (नि० १३।९) चत्वारि पदानि विविधविधान्येव प्रतिपादितानि विभिन्नैर्विद्वद्भिः स्वस्वशाखाभिप्रायमनुरुणद्भिः। तानि च यथा—

'ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो व्याकरणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्, वयसां, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके (अधिभूतविदः)। पशुषु तूणवेषु मृगे स्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः'।

२. निपुणं व्याख्यातोऽयं मन्त्रो निरुक्तकारेण यास्केन। (नि० १।१९)

३. भगवता यास्केन निरुक्तस्य चतुर्थाध्यायस्य नवमे खण्डे मन्त्रोऽयं व्याख्यायि

मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते? वैयाकरणाः। कुत एतत्? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणादभासनात् परिवृढो भवति।

सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति, 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्' इति।

प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

दशम्यां पुत्रस्य—

दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवद् आद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। काकुद् जिह्वा सास्मिन् विद्यते इति काकुदं तालु। सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धः' इत्यादिवार्तिकोक्तानि अत्रापि प्रयोजनानि अनुसन्धेयानि।

निरुक्तस्य लक्षणप्रयोजने प्रदर्श्य तत्रस्थविषयाणां कार्त्स्न्येन विवेचनम्।

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमेत्यारभ्य, वसवः, वाजिनः देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते। एतावन्ति पृथिवीनामान्येतावन्ति हिरण्यनामानीत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात्। तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम्। तच्च अनुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा।
तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः॥
गौराद्यापारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम्।
जहाद्युल्वमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते।
अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः॥
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति।
गौरादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते॥' इति।

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां सङ्घो यत्र प्रायेण उपदिश्यते तत्र

निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः। तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात्। एवमत्रापि पर्यायशब्दसङ्घोपदेशाद् आद्यकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम् तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः। तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि। द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि। तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्वह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि।

निगमशब्दो वेदवाची, यास्केन तत्र तत्रापि निगमो भवतीत्येवं वेदवाक्यानाम् अवतारितत्वात्। तस्मिन् निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम्।

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम्।

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्य उक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे। तदपि निरुक्तमित्युच्यते, एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः। तत्र हि, चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति प्रतिज्ञाय, उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्तीति निपातस्वरूपं निरुच्य एवमुदाहृतम्-नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीय इति, 'दुर्मदासो न सुरायां' मित्युपमार्थीय (नि० १।१।४) इति च। तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थीदाहरणमस्मिन् ग्रंथेऽवगम्यते। एवं ग्रन्थकारेण उक्तास्तत्तत्पदनिर्वचनविशेषास्तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एव अस्माभिरुदाहरिष्यन्ते। न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम्, एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषाञ्चिदुक्तत्वात्– 'तदाहुतीनाम् आहुतित्वम्' इति, (ऐत० ब्रा० १।१।२) 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षत' (ऐत० आ० २।४।३) इति, यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम् (तै० ब्रा० १।१।३।६।७) इति च। ग्रंथकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणानि उदाहरिष्यति। केषाचिन् निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न, सर्वेषां सिद्धिरस्ति। अतएव ग्रन्थकार आह-'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च' (नि० १।१५) इति। तस्माद् वेदार्थावबोधाय उपयुक्तं निरुक्तम्।

छन्दसः प्रयोजनोपन्यासः। तथा छन्दोग्रन्थोऽपि उपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति हि आम्नातम्। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिका अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक्।

एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः तथा अन्यत्रापि श्रूयते—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्याद्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।६।६।७) इति । तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रंथमन्तरेण न सुविज्ञेयः । किञ्च, यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा 'स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति ।' (का० १।१) तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यामिति श्रूयते । तस्मान् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते ।

ज्योतिषस्य प्रयोजनादिनिर्देशः । ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्—'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदांगज्यो० ६) इति । कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते–'संवत्सरमेतद् व्रतं चरेद्' (तै० आ० १।३२।१) 'संवत्सरमुख्यं भूत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः; 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६।७) इत्याद्या ऋतुविधयः; 'मासि मासि सत्रपृष्ठानि उपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तै० सं० ७।५।१५) इत्याद्या मासविधयः; 'यं कामयेत वसीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेद्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः; 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्,' 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं ७।४।८।१) इत्याद्यास्तिथिविधयः; 'प्रातर्जुहोति; सायं जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्याद्या; प्रातःकालादिविधयः; 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत'(तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः । अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते ।

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥' (पा०शि०४१-४२)इति ।

पुराणन्यायादिचतुर्दशविद्यास्थानानां तत्तदधिकारिविशेषनिर्देशमुखेन वेदार्थज्ञानोपयोगित्वम् । षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥'
(या० स्मृ० १।३) इति ।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' ॥ (म० भा० १।१।२६७)
इत्यन्यापि स्मर्यते ।

ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्या-

नानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेषु इतिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि। उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्यवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्'॥ (वि० पु० ३।६।२५)

इति सृष्टयादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात्। न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात्। तदनुसारेण इदं वाक्यमस्मिन् अर्थे प्रमाणं भवति नेतरद् इति निर्णयः कर्तुं शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसन्ध्यावन्दनादिविधयः प्रपञ्चिताः। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) इत्यादिकः सन्ध्यावन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद् विद्यास्थानत्वं युक्तम्। एतैः पुराणादिभिश्चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारिविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (नि० २।४)।

तत्रायं प्रथमो मन्त्रः,—

[1]विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य एवं प्रार्थयामास। हे ब्राह्मण, मामनधिकारिणोऽनुपदिश्य पालय। तवाहं निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि। तादृश्यां मयि मदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति, यश्च आर्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति, योऽपि स्नानाचमनाद्याचारनियतो न भवति तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः। तथा सति त्वद्हृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम्।

अथ द्वितीयो मन्त्रः—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
[2]तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥ इति।

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते। वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम्; तद्विपरीतं

---

१. मनुरपि अस्यैव मन्त्रस्यार्थमित्थं प्रकटीचकार स्वीयस्मृतौ—
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ (म० स्मृ० २।११४)

२. तथा मनुः—उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ (म० स्मृ० २।१४६)

सत्यं वेदवाक्यमवितथम् । तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णावातृणत्ति सर्वतस्तर्दनं पूरणं करोति । उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्ति धातोरर्थान्तरे वृत्तिः । सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? अदुःखं कुर्वन् । मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदावर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा दुःखं न भवति तथा पदं पादैकदेशं वा ग्राहयन् । किञ्च, अमृतं सम्प्रयच्छन् । अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वाद् अमृतं वेदार्थः; तस्य प्रदानं कुर्वन् । तं तादृशम् आचार्यं सन् शिष्यो मुख्यमातापितृरूपं मन्येत । पूर्वसिद्धौ तु मातापितरावधमस्य मनुष्यशरीरस्य प्रदानादमुख्यौ तस्मै मुख्यमातापितृरूपाय आचार्याय एकमपि द्रोहं न कुर्यात् ।

अथ तृतीयो मन्त्रः—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयस्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।। इति ।

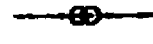
ये त्वधमा विप्रा गुरुणा अध्यापिताः सन्तो विनयोक्त्या तदीयहितचिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रियन्त आदररहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न भोजनीया अनुभवयोग्या न भवन्ति; न हि तेषु गुरुः कृपां करोति । यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तानधमान् शिष्यान् तच्छ्रुतं गुरूपदिष्टं वेदवाक्यं न पालयति, फलप्रदं न भवति इत्यर्थः ।

अथ चतुर्थो मन्त्रः—

[1]यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।। इति ।

हे आचार्य ! यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः, किञ्च यो मुख्यशिष्यस्तुभ्यं कदाचिदपि न द्रुह्येत, तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीयनिधिपालकाय हे ब्रह्मन् ! वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः । इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वाद् आचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्या उपदेष्टव्या ।

तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते ।



१. मन्त्रार्थोऽयं मनुनापि प्रतिपादितः—
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ (म० स्मृ० २।११५)

सामवेदसंहितायाः

सायणाचार्यकृता

भाष्यभूमिका

सामवेदसंहितायाः

भाष्यावतरणिका

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशत् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसङ्ग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥
सामवेदार्थमेषोऽत्र प्रकाशयति सादरम् ।
उद्गातुस्तत्त्वजिज्ञासोरपि तेन कृतार्थता ॥ ५ ॥
यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः ।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्प्रदः ॥ ६ ॥
निर्मिमीते क्रियासङ्घैरध्वर्युर्यज्ञियं वपुः ।
तदलङ्कुर्वते होता ब्रह्मोद्गातेत्यमी त्रयः ॥ ७ ॥
शस्त्रयाज्यानुवाक्याभिर्होताऽलङ्कुरुतेऽध्वरम् ।
आज्यपृष्ठादिभिः स्तोत्रैरुद्गाताऽलङ्करोत्यमुम् ॥ ८ ॥
त्रयाणामपराधं तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा ।
ऋचां त्व इति मन्त्रेऽसावर्थः सर्वोऽभिधीयते ॥ ९ ॥
यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः ।
व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम् ॥ १० ॥
साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याऽथ वर्ण्यते ।
अनुतिष्ठासुजिज्ञासावशाद् व्याख्याक्रमो ह्ययम् ॥ ११ ॥
जाते देहे भवत्यस्य कटकादिविभूषणम् ।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा ॥ १२ ॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः ॥ १३ ॥

अध्वर्युहोत्रुद्गातृब्रह्मा-कर्तव्यप्रतिपादकमन्त्रस्यार्थयोजनम्

नन्वध्वर्युहोत्रुद्गातृब्रह्मकर्त्तव्यप्रतिपादको यो' मन्त्रस्तस्यार्थो योजनीय इति चेत्? योज्यते—

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विममीत उ त्वः' ॥
(ऋ० १०।१७।११)

इत्येष मन्त्रः। तस्यायमर्थः त्वशब्दः शर्वनामसु पठितः एकशब्द-पर्यायः, एको होतृनामकः ऋत्विक् तत्र तत्र विप्रकीर्णत्वेनाधीतानामृचां यज्ञानुष्ठानकाले सङ्घीभावमापाद्य पुष्टिं कुर्वन्नास्ते। एक उद्गातृनामकः शक्वर्युपलक्षितच्छन्दोविशेषयुक्तास्वृक्षु गायत्रादिनामकं साम गायति। एको ब्रह्मनामको होत्रादीनां वेदत्रयविषये यस्मिन् कस्मिंश्चिदपराधे जाते तत्प्रतीकाररूपां विद्यां वदति। अत एव च्छन्दोगा आमनन्ति 'यज्ञस्य हैष भिषग् यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद् भेषजं कृत्वा हरति' इति; 'यदि यज्ञ ऋक्त आर्त्तिर्भवति भूरिति ब्रह्मा गार्हपत्ये जुहुयात्' इत्यादि च। एकस्त्व-ध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियतां विमिमीते विशेषेण परिच्छिनत्ति इति।

ननु वेदार्थप्रकाशकेऽस्मिन् ग्रन्थे वेदानां व्याख्येयत्वे सति तत्परित्यज्य यजुरादिकं व्याख्येयत्वेनोपन्यसितुमयुक्तम् इति चेत्? नायं दोषः, मन्त्र-विशेषावाचकैर्यजुरादिशब्दैस्तत्तन्मन्त्रोपेतानां वेदानामुपलक्षितत्वात्।

मन्त्रलक्षणम्

ननु मन्त्रवेदयोः को विशेषः इति चेत्? उच्यते—मन्त्रब्राह्मणसमष्टिर्वेदः। तथा चापस्तम्बः स्मरति 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' इति। वेदैकदेशयोर्मन्त्रब्राह्मणयोः पृथक्स्वरूपं जैमिनि-र्न्यायेन निर्णीतवान्। तत्र मन्त्रस्वरूपनिर्णयं द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाधिकरणे न्यायविस्तरकार इत्थमुदाजहार—

'अहे बुध्निय मन्त्रं मे इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।
नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥ (जै० न्या० मा० २।१।७)

आधाने इदमाम्नायते 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।८६) इति। तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुम-शक्यत्वात्। 'विहितार्थाभिधायको मन्त्रः' इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलाना-लभते' इत्यस्य मन्त्रस्य (वा० सं० २४।२०) विधिरूपत्वादव्याप्तिः। 'मननहेतुर्मन्त्रः' इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः। एवम् 'असिपदान्तो मन्त्रः' 'उत्तमपुरुषान्तो मन्त्रः' इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिः इति चेत्? मैवम्, याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यानमनुष्ठान-

स्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति । उरुप्रथस्वेत्यादयो (तै० सं० ६।२।७।३) ऽनुष्ठानस्मारकाः [१] अग्निमीळे पुरोहित (ऋ० सं० १।१।१)मित्यादयः स्तुतिरूपाः [२] ईषे त्व (वा० सं० १।१) इत्यादयस्त्वन्ताः [३] अग्न आयाहि वीतये (सा० सं० १।१) इत्यादय आमन्त्रणोपेताः [४] अग्निदग्नीन् विहर (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरूपाः [५] अधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् (ऋ० १०।११९।५) इत्यादयो) विचाररूपाः [६] अम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके न मानयति कश्चन (वा० सं० २३।१८) इत्यादयः परिदेवनरूपाः [७] पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्या (वा० सं० २३।६१) इत्यादयः प्रश्नरूपाः [८] वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्या (वा० सं० २२।६२) इत्यादयः उत्तररूपाः [९] एवमन्यदप्युदाहार्यम् ; ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति, यस्य लक्षणमुच्येत । लक्षणस्योपयोगश्च पूर्वाचार्यैर्दर्शितः—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्तः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ।। इति
तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम् ।।

ब्राह्मणस्वरूपमपि तत्रैवाष्टमाधिकरणे इत्थं निर्णीतम्—

"नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा ।
नास्तीयन्तो वेदभाग इति क्लृप्तेरभावतः ।।
ब्राह्मणलक्षणम् मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः ।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतत् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ।
(जै० न्या० मा० २।१।८)

चातुर्मास्येष्विदमाम्नायते—'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तै० सं० ३।७।१।१) इति तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति, कुतः ? वेदभागानामियत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात् पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः, भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहृत्य संग्रहीतानि ।

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परकृतिः पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ।। इति

तेन ह्यन्नं क्रियते (श० ब्र० २।५।२।२३) इति हेतुः [१]एतद्दध्नो दधित्वमिति निर्वचनम् (तै० सं० २।५।३।३) [२] अमेध्या वै माषा (तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा [३] वायुर्वै क्षेपिष्ठेति (तै० सं० २।१।१।१) प्रशंसा [४] तद् व्यचिकित्सन् जुहवानी मा हौषामिति (तै० सं ६।५।९।१) संशयः [५] यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवतीति (तै० सं० ६।२।१०।३) विधिः [७] माषानेव मह्यं पचते इति परकृतिः [७] पुरा ब्राह्मणा अभै-

षुरि ति (तै० सं० १।५।७।५) पुराकल्पः [८] यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेदिति (तै० सं० २।३।१२।१) विशेषावधारणकल्पना [९] एवमन्यदप्युदाहार्य्यम् ।

न च हेत्वादीनामन्यतमद् ब्राह्मणम्' इति लक्षणम्, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात् । तथाहि-इन्दवो वामुशन्ति हीति (ऋ० १।२।४) हेतुः । उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यत इति (अ० ३।१३।४) निर्वचनम् । 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (ऋ० १०।११७।६) इति निन्दा । अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुदिति (ऋ० ८।४४।१६) प्रशंसा । अधः स्विदासीदुपरिस्विदासीदिति (ऋ० १०।१२९।५) संशयः । कपिञ्जलानालभत इति (वा० सं० २४।२०) विधिः । सहस्रमयुता ददिति (ऋ० ८।२१।१८) परकृतिः । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा (ऋ० १०।९०।१६) इति पुराकल्पः । इतिकरणबहुलं ब्राह्मणं इति चेत् न, इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेदित्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रे (श० ब्रा० १३।१।५।६) ऽतिव्याप्तेः । इत्याहेत्यनेन वाक्येनोपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत् न 'राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० ७।४१।२) यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह (ऋ० ६।१०४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः । 'आख्यायिकारूपं ब्राह्मणम्' इति चेत् ? न, यमयमीसंवाद (ऋ० १०।१०) सूक्तादावतिव्याप्तेः । तस्मान्नास्ति ब्राह्मणलक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागावित्यङ्गीकारात् मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वात 'अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्' इत्येतल्लक्षणं भवतीति ।"

मन्त्रविशेषाणामृग्यजुःसामरूपाणां लक्षणानि

मन्त्रविशेषाणामृग्यजुःसामरूपाणां लक्षणानि तस्मिन्नेवाधिकारे त्रिष्वधिकरणेषु जैमिनिः सूत्रयामास– 'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी० २।१ ३५) 'गीतिषु समाख्या' (मी० २।१।३६) 'शेषे यजुः शब्दः' (मी० २। १।३७) इति । तदेतन्न्यायविस्तरे स्पष्टीकृतम्—

नर्कसामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शङ्किते ।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्यसङ्करः ॥

इदमाम्नायते 'अहेर्बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।२६) इति त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः, त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदास्ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधमाहुः तं गोपामेति योजना । तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति, कुतः ? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । 'अध्यापकप्रसिद्धेष्वृग्वेदादिषु पठितो मन्त्रः' इति हि लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च सङ्कीर्णम् 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे (तै० सं० १।८।५।१) सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः । न च तस्य यजु-

ष्ट्वमस्ति, तद् ब्राह्मणे साविञ्यर्चे त्यृक्त्वेन व्यवहृतत्वात् । 'एतत् साम गायन्नास्ते' (तै० सं० १।६।७।१) इति प्रतिज्ञाय किञ्चित साम यजुर्वेदेऽङ्गीकृतम्; 'अक्षितमसि', 'अच्युतमसि' 'प्राणप्रसंशितमसि' इति त्रीणे (तै० सं० १।६।५।१) यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि (छा० उप० ३।१७।६) । तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मान्नास्ति लक्षणमिति चेत् ? न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात् । 'पादबन्धेनार्थेन चोपेताः वृत्तबद्धाः मन्त्राः ऋचः' 'गीतिरूपाः मन्त्राः सामानि' 'वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि' इत्युक्ते न क्वापि सङ्करः इति ॥

रथन्तरशब्दनिरूपणम् 'यदुक्तं' गीतिषु समाख्येति' तदेव विशदीकर्त्तुं सप्तमाध्यायस्य द्वितीयपादे रथन्तरशब्दो निरूपितः—

'अतिदेश्यं विनिश्चेतुं कवतीषु रथन्तरम् ।
गायतीत्यृग् गानयुक्ता शब्दार्थो गानमेव वा ॥
इति चिन्ता गानयुक्ताः त्वभि त्वेत्यृक् प्रसिद्धितः ।
लाघवादतिदेशस्य योग्यत्वाच्चान्तिमो भवेत् ॥

इदमाम्नायते 'कवतीषु रथन्तरं गायति' इति, 'कया नश्चित्र आभुवदित्याद्यास्तिस्र ऋचः कवत्यः' (ता० ब्रा० १५ । १०) तासु वामदेव्यं सामाध्ययनतः प्राप्तम् । तद्बाधितुं रथन्तरं साम तास्वतिदिश्यते । तत्रातिदेशस्य स्वरूपं निश्चेतुं रथन्तरशब्दार्थश्चिन्त्यते । गानविशेषयुक्ता 'अभि त्वाशूर नोनुमो' इतीयमृग् (पूर्वार्चिक ३।५।१) रथन्तरमित्युच्यते, कुतः ? अध्येतृप्रसिद्धितः । रथन्तरं गीयतामिति केनचिदुक्ताः अध्येतारः स्वरस्तोभविशेषयुक्तामभि त्वेत्यृचं पठन्ति, न तु स्वरस्तोभमात्रम् । तस्माद् गानविशिष्टाया ऋचो रथन्तरशब्दार्थत्वमिति प्राप्ते, ब्रूमः, स्वरादिविशेषानुपूर्वीमात्रस्वरूपमृगक्षरव्यतिरिक्तं यद् गानं तदेव रथन्तरशब्दार्थः, कुतः ? लाघवात्, किञ्च कवतीष्वृक्षु गानमतिदेष्टुं योग्यं न त्वृचस्तद्योग्यतास्ति, कया नोऽभि त्वेत्यनयोर्ऋचोर्युगपदाधाराधेयभावेन पठितुमशक्यत्वाद् । तस्माद् गानविशेष एव रथन्तरशब्दार्थः इति ॥

सामशब्दस्य गानमात्रवाचित्वप्रतिपादनम् पुनरपि नवमाध्यायस्य द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणस्य प्रथमवर्णके सामशब्दस्य गानमात्रवाचित्वं स्मारितम्—

'सामोक्तिबृहदाद्युक्ती गीतायामृचि केवले ।
गाने वा गान एवेति स्मार्यते सप्तमोदितम् ॥

सामान्यवाची सामशब्दो विशेषवाचिनो बृहद्रथन्तरादिशब्दाश्च गानमात्रे वर्त्तन्ते, न तु गानविशिष्टायामृचि इत्ययं नियमः सप्तमस्य द्वितीयपादे सिद्धः, सोऽत्र वक्ष्यमाणविचारोपयोगितया स्मार्यते' इति ॥

सामशब्दवाच्यस्य गानस्य स्वरूपमृगक्षरेषु क्रुष्टादिभिः सप्तभिः स्वरै अक्षरविकारादिभिश्च निष्पाद्यते । क्रुष्टः प्रथमो द्वितीयस्तृतीयश्चतुर्थः पञ्चमः षष्ठश्चेत्येते सप्त स्वराः । ते चावान्तरभेदैर्बहुधा भिन्नाः । स्वरस्य सामनिष्पादकत्वं छान्दोग्योपनिषदः प्रथमे प्रपाठके (८। ३ । ४) प्रश्नोत्तराभ्यामनन्ति 'स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भमुवाच हन्त ! त्वा पृच्छानीति । पृच्छेति होवाचका साम्नो गतिरिति ? स्वर इति होवाच' इति । काण्वा उद्गीथविद्यायां स्वरस्य सामसम्बन्धिसर्वस्वस्थानीयत्वं शोभनवर्णस्थानीयत्वं चाकनन्ति 'तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्' इति, 'तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद, भवति हास्य सुवर्णं, तस्य वै स्वर एव सुवर्णम्' (सामवि० ब्रा० १ प्रपा० १ खं०) इति च ।

अक्षरविकारादीनां सामनिष्पादकत्ववर्णनम् । अक्षरविकारादीनान्तु सामनिष्पादकत्वं नवमाध्यायस्य द्वितीयपादे एव 'अथकत्वाद् विकल्पः स्यात्' (मी० ९।२।२९) इत्येतस्य सप्तमाधिकरणगतस्य सूत्रस्य व्याख्यानावसरे शबरस्वामिना स्पष्टमुक्तम् 'सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः । आहक इमे गीत्युपाया नाम ? उच्यते गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरप्रयत्नजनितस्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका, सामशब्दाभिलप्या । सा नियतप्रमाणा, ऋचि गीयते । तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते'—इति । तद्विषये विचारो न्यायविस्तरेऽभिहितः—

'समुच्चया विकल्प्या वा विभिन्ना गीतिहेतवः ।
आद्यः प्रयोगग्रहणादर्थैकत्वाद् विकल्पनम् ।।

छान्दोग्ये तवल्कारादिशाखाभेदेषु विलक्षणा गीतिहेतवोऽक्षरविकारादय आम्नायन्ते, ते सर्वे कर्मानुष्ठाने समुच्चेतव्याः । कुतः ? प्रयोगवचनें सर्वेषां परिगृहीतत्वात् । मैवम्, एकैकशाखोक्तैरेवाक्षरविकारादिभिरध्ययनकाल एव गीतिस्वरूपनिष्पत्तेस्तन्निष्पत्तिलक्षणस्य प्रयोजनस्यैकत्वात्, प्रयोगवचनपरिगृहीता अपि व्रीहियववद् बृहद्रथन्तरवच्च विकल्पन्ते' इति ।।

स्तोभस्य लक्षणनिर्देशः गीतिहेतुषु स्तोभस्यात्यन्तप्रसिद्धत्वात् तल्लक्षणं तस्मिन्नेव पादे एकादशाधिकरणे चिन्तितम्—

"स्तोभस्य लक्षणं नास्ति किं वास्ति न विवर्णता ।
आधिक्यमप्यतिव्याप्तं विशिष्टं लक्षणं भवेत् ।।

न तावद् विवर्णत्वं लक्षणम्, वर्णविकारस्य विपरीतवर्णत्वेन स्तोभ-

त्वप्रसङ्गात् अग्न आयाही(सा० १ । १)त्यस्यामृचि अकारस्य स्थाने ओकारं कृत्वा गायन्ति 'ओग्नायि'इति (गेयगा०प्रपा० १. साम१)। अधिको वर्णः स्तोभ इत्युक्ते सति अभ्यासेऽतिव्याप्तिः। पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेत्येतस्यामृचि (पू० आ० ५।१।८) ददुत्वेत्यक्षर-त्रयं गानकाले (गे० गा० १०।२।३) त्रिरभ्यस्तम् । अतो विकाराभ्यासयोरतिव्याप्तेर्नास्ति लक्षणम् इति चेत् ? मैवम्, 'अधिकत्वे सत्यृग्विलक्षणवर्णः स्तोभः' इति विशिष्टस्य तल्लक्षणत्वात् ; लोकेऽपि सभायां विप्रलम्भकेनोच्यमानं प्रकृतार्थानन्वितं कालक्षेपमात्रहेतुं शब्दराशिं स्तोभ इत्याचक्षते। तस्मादस्ति लक्षणम्" इति ॥

गाने वर्णलोपादीनां विषयाणां विचारः

अक्षरविकारस्तोभादिवत् वर्णलोपोऽपि क्वचिद् गीतिहेतुर्भवति, तल्लोपविषयश्च विचारो नवमाध्याये प्रथमपादस्याष्टादशाधिकरणेऽभिहितः—

'इरा गिरा विकल्पः स्यादुतैरैषा विशेषतः ।
आद्यो मैवं बाधपूर्वमिराया विहितत्वतः ॥'

ज्योतिष्टोमे श्रूयते 'यज्ञायज्ञीयेन स्तुवीत' (ताण्ड्य ब्रा० ८ । ६) इति 'यज्ञायज्ञ' इत्यनेन शब्देन युक्तायामृच्युत्पन्नं साम यज्ञायज्ञीयम् (गेयगान १ । ३२) तस्यामृचि गिराशब्दः पठ्यते 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे, इति (पू० आ० १।४।१) । तत्र सामगा योनिगानमधीयानाः सहैव गकारेण गायन्ति 'गायिरा गिरा' इति । ब्राह्मणे (ताण्ड्य ८।६) तु गकारलोपपूर्वकमाकारयकारादिकं गानं विधीयते 'ऐरं कृत्वोद्गेयम्' इति । गिराशब्दे गकारलोपादिराशब्दो भवति । इरायाः सम्बन्धि गानम् ऐरम् । तादृशं कृत्वा प्रयोगकाले तद्गानं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्र योनिगानब्राह्मणयोः समानबलत्वेन विशेषाभावात् विकल्पेन प्रयोक्तव्यमिति प्राप्ते, ब्रूमः—

'न गिरा गिरेति ब्रूयाद्, यद् गिरा गिरेति ब्रूयाद् आत्मानमेव तदुद्गाता गिरेत्' (ता० ब्रा० ८ । ६) इति गकारसहितगाने बाधकमुक्त्वा गकाररहितमिरापदं गेयत्वेत विधीयते, तत्पदादेरिकारस्य गानार्थमाकारो यकार इकारश्चेति त्रीन् वर्णान् प्रयुञ्जते, तत 'आयिरा' इत्येव गातव्यम्, (उह्यगान २ प्रपा० १५ साम) इति ।

इराशब्दस्य गानविधानम्

तत्रैवोपरितनाधिकारे कश्चिद्व विशेषश्चिन्तितः—

"इरापदं न गेयं स्याद् गेयं वा गीत्यनुक्तितः ।
न गेयं गीयमानस्य स्थाने पातात् प्रगीयते ॥

ब्राह्मणेन विहित इराशब्दो न गातव्यः, कुतः ? ऐरमिति शब्देन गीते-

रनुक्तत्वात् ; पाणिनीयेन 'विमुक्तादिभ्योऽण्' (अष्टा० ५।२।६१) इति सूत्रेण इराशब्दादण्प्रत्ययो मत्वर्थीयो विहितः, तथा सतीरापदोपेतं कृत्वेत्येतावानेवार्थो भवति। यदि प्रगीतेरापदसम्बन्धः तद्धितेन विवक्ष्येत, तदानीमाकारौ यकार ईकारो रेफ आकारश्चैतैः पञ्चभिर्वर्णैर्निष्पन्नमायीरारूपं गीयमानेराशब्दप्रातिपादिकं भवति। तादृशात् प्रातिपादिकात् पाणिनीयेन 'वृद्धाच्छः' [अष्टा० ४।२।१०४] इति सूत्रेण प्रत्ययान्तरे सति, आयिरीयं कृत्वेति ब्राह्मणपाठो भवेत्। तस्मान्न गेयम् इति प्राप्ते, ब्रूमः— गीयमानस्य गिरापदस्य स्थाने इरापदं विधीयते इति पदमात्रस्य बाधः, गानन्तु न बाध्यते; किञ्च विमुक्तादि [अष्टा० ५।२।६१] सूत्रेणाणप्रत्ययेऽपि, पूर्वस्मात् 'मतौ छः सूक्तसाम्नोः' [अष्टा० ५ । २ । ५९] इति सूत्रात् सामानुवृत्तेरैरं सामेत्यर्थो भवति, सामत्वं च गीतिसाध्यम्, यदा तु 'तस्य विकारः' [अष्टा० ४ । ३ । १३४] इत्यस्मिन्नर्थे अण् प्रत्ययः, तदानीमिराया विकार इति विग्रहे यथोक्तं गानं लभ्यते। तस्माद् गातव्यम्" इति ॥

साम्नां देवतास्तुतिहेतुत्ववर्णनम् बहुभिः प्रकारैर्गानात्मकं यत् सामस्वरूपं निरूपितम्, तस्यैव देवतास्तुतिहेतुत्वं नवमाध्यायस्य द्वितीयपादेऽष्टमाधिकरणस्य प्रथमवर्णके निर्णीतम्——

"ऋक्सामाभ्यां विकल्पेन स्तुतिः साम्नैव वाग्रिमः।
पुरेव मैवमृङ् निन्दासामप्राशस्त्यदर्शनात् ॥

क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते 'ऋचा स्तुवते', 'साम्ना स्तुवते' इति। तत्र, पूर्वन्यायेन विकल्पः इति चेत्? मैवम् 'ऋङ्निन्दासामप्रशंसयो वाक्यशेषेऽवगमात् 'यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्, यत् साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्, य एवं विद्वान्, साम्ना स्तुवीत' इत्यृचं निन्दित्वा साम प्रशस्य लिङ्प्रत्ययेन साम विहितं, तस्मात् साम्नैव स्तोतव्यम्" इति ॥

साम्नामृचः प्रतिसंस्कारत्वव्यवस्था तस्य च साम्नः ऋचं प्रति संस्कारकत्वं तस्मिन्नेव पादे द्वितीयाधिकरणे निर्णीतम्।

"सामर्चं प्रति मुख्यं स्याद् गुणो वा बाह्यपाठतः।[1]
मुख्यमभ्यसितुं पाठौ गुणो गीताक्षरैः स्तुतेः ॥

रथन्तरं गायतीत्यादौ यद्गानं विहितम् तदेव सामशब्दार्थं इति प्रतिपादितं स्मारितञ्च। तदेतद् गानमृचं प्रति प्रधानकर्म स्यात्, कुतः ?

---

१. साम्नां योनिभूता ऋचः छन्दसि आर्चिके पठ्यन्ते। तासां सामापरपर्यायाणि गानानि यत्र विद्यन्ते तद् योनिगानमित्याचक्षते। वेदसाम, वेदगानं, गेयगानमित्यपि तस्यापरं नाम।

यागप्रयोगाद् बहिरध्ययनकालेऽपि पठ्यमानत्वात्, गुणकर्मत्वे तु व्रीहिप्रोक्षणादिवद् यागमध्ये एव गानमनुष्ठीयेत, ततो बहिर्गानस्य विश्वजिदादिवत् फलं कल्पनीयम्। मध्यकालीनगानं तु प्रयाजादिवदारादुपकारकम् तस्मान्मुख्यमेतन्न तु गुणकर्म इति प्राप्ते, ब्रूमः—न तावद् बहिःपाठः प्रधानकर्मत्वं कल्पयितुं शक्नोति भूमिरथिकशुष्केष्टिन्यायेन प्रयोगपाटवाय गानाध्ययनोपपत्तेः (भूमिरथिको भूमौ रथमालिख्याभ्यासं करोति, यथा वा छात्रः शुष्केष्टया प्रयोगपाटवं सम्पादयति, तद्वत्)। नापि गुणकर्मत्वे प्रयोजनाभावात् प्रधानकर्मत्वमिति, वाच्यम्, गानेन संस्कृतैर्ऋगाक्षरैः स्तुतिसम्भवात्; 'आज्यैः स्तुवते' पृष्ठैः स्तुवते' इति स्तुतिविधानात्। तस्मादृगक्षराणां स्वरविशिष्टत्वाकाराभिव्यक्तिर्दृष्टं प्रयोजनमित्यदृष्टस्याकल्पनीयत्वाद् गानं संस्कारकर्म" इति॥

ऊहग्रन्थस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविचारः

यथोक्तमृगक्षराणां संस्कारकं गीत्यात्मकं यत् साम तदेतदेकैकं छन्दोगा एकैकस्यामृचि 'वेदसाम' नामके ग्रन्थेऽधीयन्ते। ऊहनामके तु ग्रन्थे एकैकं साम तृचेऽधीयते सोऽयमूहग्रन्थः तस्मिन्नेव पादे प्रथमाधिकरणस्य द्वितीयवर्णके विचारितः—

"ऊहग्रन्थोऽपौरुषेयः पौरुषेयोऽथवाऽग्रिमः।
वेदसामसमानत्वाद् विधिसार्थत्वतोऽन्तिमः॥

यस्मिन् ग्रन्थे सामगास्तृचे तृचे सामकैकं गायन्ति सोऽयमूहग्रन्थो नित्यो न तु पुरुषेण निर्मितः, कुतः? अनध्यायवर्जनेन कर्त्तरस्मरणेनाध्यापकानां वेदत्वप्रसिद्धया च वेदसामनामकयोनिग्रन्थसदृशत्वात्; इति चेत्? मैवम्, अपौरुषेयत्वे विधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् 'यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति' इति विधीयते।

अयमर्थः—अपौरुषेयत्वेन सम्प्रतिपन्ने वेदसामनामके ग्रन्थे 'कया नश्चित्र आ भुवत्' इत्येतस्यां (उत्तरार्चिकस्य १ पा० १२ सू० १ सू०) योन्यामेककस्यामृचि यद् वामदेव्यनामकं सामोपदिष्टं तदेवोत्तरयोर्ऋचोः 'कस्त्वा सत्योमदानाम्' (उ० आ० १।१२।२) 'अभी षुणः सखीनाम्' (उ० आ० १।१२।३) इत्यनयोः द्वितीयतृतीययोर्गातव्यम् इत्ययं विधिरूहग्रन्थस्य वेदत्वे व्यर्थः स्यात्, 'वेदसाम' वदध्ययनादेव तत्सिद्धेः। उपरितनऋग्द्वये सामोहस्य पौरुषेयत्वेऽपि सामस्वरूपस्य तदाधारभूतानाम् तिसृणामृचां च वेदत्वादनध्यायाः वर्जनीयाः, कर्त्तुरस्मरणं जीर्णकूपारामादिष्विव चिरकालव्यवधानादुपपन्नम्। अस्मरणमूलैवाध्यापकानां वेदत्वप्रसिद्धिः यथा बह्वृचामध्यापका महाव्रतप्रयोगप्रतिपादकमाश्वलायननिर्मितं कल्पसूत्रमारण्येऽधीयमानाः पञ्चममारण्यकमिति वेदत्वेन

व्यवहरन्ति, तद्वत् ; न च तस्यापि वेदत्वमस्त्विति वाच्यम्, प्रथमारण्यकेन पुनरुक्तत्वात्, अर्थवादराहित्येन ब्राह्मणसादृश्याभावाच्च। तस्मात् पञ्चमारण्यकवदूहः पौरुषेयः; पौरुषेयस्य च न्यायामूलत्वात् यत्र वक्ष्यमाणन्यायविरोधस्तदप्रमाणम्" इति ।।

एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियमिति विधानमूलको विचारः तृचे करणप्रकारश्च

तत्रैव केचिद् विशेषास्तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाधिकरणैर्बहुवर्णकोपेतैर्विचारिताः । तत्र-तृतीयाधिकरणम्—

'अंशैः सामर्क्षु कृत्स्नं वा प्रत्यृचं तिसृभिः श्रुतेः ।
अंशैर्मैवं स्तुतेरंशैरसिद्धेः प्रत्यृचं भवेत् ।।

'एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्' इति, श्रूयते। तत्र त्रेधा विभक्तेषु सामांशेषु एकैकोऽशः एकैकस्यामृचि गातव्यः, कुतः ? एकस्य साम्नः तिसृभिर्ऋग्भिर्निष्पादनस्य श्रवणात्; इति प्राप्ते ब्रूमः—स्तोत्रियमिति स्तुतिनिष्पादकत्वं कृत्स्नस्य साम्नो विधीयते, न तु सामांशानाम्। स्तुतिर्नाम गुणकथनपरमेकं वाक्यम्, तच्च वाक्यमेकस्यामृचि सम्पूर्णम्। ततः कृत्स्नेन साम्ना तद् वाक्यं संस्कार्यमिति प्रत्यृचं सामाभ्यसनीयम्। तथा सति द्वितीमतृतीययोर्ऋचोस्तस्यैव साम्न आवर्त्तमानतया सामान्तरत्वाभावाद् ऋक्त्रयनिष्पाद्यत्वमविरुद्धम्; तस्मात् प्रत्यचं कृत्स्नं साम समापनीयम्"—इति ।।

शरलेशविषयको विचारः

चतुर्थाधिकरणम्—

"तिसृष्वृक्षदितं साम विषमासु समासु वा ।
यथेच्छानियमादन्त्यः शरलेशापनुत्तये ।।

विषमच्छन्दस्कासु समच्छन्दस्कासु वा तिसृष्वृक्षु स्वेच्छया साम गातव्यम्, इत्थमेवेतिनियामकस्य कस्यचिदभावात् इति चेत् ? मैवम्, शरलेशप्रसङ्गस्य नियामकत्वात्। शरो हिंसा, लेशोऽल्पत्वम्, 'शॄ' हिंसायाम्, 'लिश्' अल्पीभावे, इत्येतद्धातुद्वयदर्शनात्। यद्यधिकच्छन्दस्कायां योनौ उत्पन्नं साम, न्यूनच्छन्दस्कयोर्गीयेत, तदा सामभागेनैव तत्पूर्त्तेरवशिष्टसामभागाश्रयाभावाद्धिस्येत; यदि योनेरप्यधिकच्छन्दस्कयोर्गीयेत, तदा साम्नोऽल्पत्वादवशिष्ट ऋग्भागः सामरहितः स्यात्; तस्मात् समानच्छन्दस्कास्वेव गातव्यम्"—इति ।

छन्दःस्थयोरुत्तरास्थयोर्वा ऋचोरूहनमिति विचारः

पञ्चमाधिकरणे प्रथमवर्णकम्—

"छन्दःस्थयोरुत्तरास्थयोर्वा गीतेरिहोहनम् ।
अविशेषाद् विकल्पः स्यादन्त्यः संज्ञाबलित्वतः ।।

सामगानामृक्पाठाय द्वौ ग्रन्थौ विद्येते, 'छन्दः' 'उत्तरा' चेति। तत्र छन्दोनामके ग्रन्थे नानाविधानां साम्नां योनिभूता एवर्चः पठिताः ।

उत्तराग्रन्थे तृचात्मकानि सूक्तानि पठितानि एकस्मिंस्तृचे छन्दोगता योन्यृक् प्रथमा, इतरे द्वे उत्तरे।

एवं स्थिते सति रथन्तरमुत्तरयोर्गायति, यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायतीत्यत्र द्विविधे उत्तरे सम्भाविते, रथन्तरस्य छन्दोग्रन्थे ऽभि त्वा शूरेतीयमृग् योनित्वेन पठिता, तस्या उपरि त्वामिद्धिहवामह इत्यादयः बृहदादिसाम्ना योनयः पठिताः [३ प्र० १ ख० १ ऋ०], उत्तराग्रन्थे 'अभि त्वा शूरेति' सूक्ते (१।११) तस्या ऋच ऊर्द्ध्वं 'न त्वा अन्यो दिव्यो इत्येषा' [२।११।२] साम्नः कस्याप्ययोनिभूता पठिता। तत्र छन्दोग्रन्थापेक्षया सामान्तरयोर्योनी द्वे रथन्तरस्य स्वयोन्युत्तरे भवतः, उत्तराग्रन्थापेक्षया तृचगते द्वितीयतृतीये स्वयोन्युत्तरे भवतः। तत्र विशेषनियामकाभावात् ययोः कयोश्चिदुत्तरयोर्गानमिति चेत्? मैवम्, उत्तरेति संज्ञा सहसा बुद्धिस्था भवति प्रतियोगिनिरपेक्षत्वात्। पूर्वपठितां योनिमृचमपेक्ष्य यदुत्तरात्वं तद्विलम्बेन प्रतीयमानत्वाद् दुर्बलम्। ईदृशमेवोत्तरात्वं छन्दसि पठितयोः स्वयोन्युत्तरभाविन्योः सामान्तरयोन्योर्द्वयोर्ऋचयोः, तृचगतयोस्तु द्वितीयतृतीययोरुत्तरात्वं संज्ञया वर्त्तते, अतस्तयोरेव गानम्। एवं सति पूर्वाधिकरणे निर्णीतं समास्वेव गानमनुगृहीतं भवति। किञ्च तृचात्मकेषु सूक्तेषु या प्रथमा योनिभूता तन्नाम्ना छन्दोग्रन्थस्य 'योनिग्रन्थः'–इति अध्यापकानां समाख्या। इतरस्य तु तृचसङ्घरूपस्य ग्रन्थस्योपरितनयोर्ऋचोर्नामधेयेन 'उत्तरा' इति समाख्या। स एव ग्रन्थः कर्माङ्गसमर्पकं प्रकरणं, पञ्चदशसप्तदशादिस्तोमानां तृचेष्वेवोत्पत्तेः। तस्मादुत्तराग्रन्थयोस्तृचगतयोर्द्वितीयतृतीययोरयमूहः" इति ॥

त्रैशोकसामोहन- द्वितीयवर्णकम्—
विचारः

"त्रैशोकेऽतिजगत्यौ द्वे आनेये गीतयेऽथवा।
बृहत्वा वादिमः साम्यान्नोत्तरात्वं श्रुतेर्बलात् ॥

द्वादशाहे चतुर्थेऽहनि त्रैशोकनामकं साम [ऊह २ प्र २ अ १३] विहितम्, तच्च विश्वाः पृतना [५।१४।१।] इत्येतस्यामतिजगत्यामुत्पन्नम्। तस्मिंश्च तृचे तस्या योनेरुत्तरे द्वे बृहत्यौ 'नेमिं न यन्तीत्यादिके' [५।१४।२–३] आम्नाते। तत्र बृहत्यावुपेक्ष्य तयोः स्थाने द्वे उत्पत्तिसिद्धे अतिजगत्यौ आनीय तासु तिसृषु गेयम्; तथा सति समासु गानं पूर्वत्र निर्णीतमनुगृह्येत, 'अति जगतीषु स्तुवन्ति'–इति [ताण्डच ब्रा० १२।१०] श्रयमाणम् अतिजगतीबहुत्वम् अन्यथा नोपपद्येतेति चेत्? मैवम्, उत्तरोर्गायतीत्युक्तस्य संज्ञारूपस्योत्तराशब्दस्याधीयमानयोर्बृहत्योर्मुख्यत्वात्, श्रुतिश्च बहुललिङ्गात् 'समासु गानम्'–इति न्यायाच्च बलीयसी। यदेतदतिजगतीबहुत्वं तद् बृहत्योः स्वीकारेऽप्युप-

पद्यते, एकविंशस्तोमस्यात्र विहितत्वेन तत्सिद्धये प्रथमायाः अतिजगत्याः सप्तकृत्व आवर्त्तनीयत्वात् । तस्मात् त्रैशोकं साम बृहत्योरूहनीयम्"–इति ।

विषमच्छन्दस्कयोरुत्तरयो- षष्ठाधिकरणे प्रथमवर्णकम्––

र्गानप्रकारः "रथन्तरे ककुब् ग्राह्या ग्रथ्या वाद्योऽर्थवत्वतः ।
पुनः पदाप्रसिद्धचादेरन्त्योऽर्थोऽन्यत्र वीक्ष्यताम् ॥

इदमाम्नायते [ताण्डच ७।७] 'न वै बृहद्रथन्तरमेकच्छन्दः यत्तयोः पूर्वा बृहती ककुभावुत्तरे' इति । अयमर्थः–बृहद्रथन्तरं तदेतत् सामद्वयमितरसामवदेकच्छन्दस्कं न भवति, यस्मात् कारणात् तयोर्बृहद्रथन्तरसाम्नोराश्रयभूतास्वृक्षु पूर्वा बृहतीछन्दस्का [३।१२।१] उत्तरे तु द्वे ऋचौ [३।१२।१] ककुब्छन्दस्के । इतरेषां वामदेव्यादिसाम्नामाश्रये तृचे अवस्थिताः तिस्र ऋचः एकच्छन्दस्काः उत्तराग्रन्थे आम्नाताः [१।१२] संशरविलेशपरिहाराय 'समासु गायेत्'–इति न्यायेन निर्णीता एव । इह तु वाचनिकं विषमच्छन्दस्कासु गानमिति तत्र रथन्तरस्याश्रयतया तृचो नोत्तराग्रन्थे समाम्नातः, किन्तर्हि ? प्रगाथस्तदाश्रयत्वेनाम्नातः । स च द्वाभ्यामृग्भ्यां निष्पन्नत्वात् द्वचचो भवति, तयोश्च द्वयोर्ऋचोः 'अभि त्वा शूरेत्येषा' [१।१।११] प्रथमा, सा च बृहती । 'न त्वा वा अन्यो दिव्यो' इत्येषा [१।११।२] द्वितीया सा च पंक्तिच्छन्दस्का । तथा च सति तां पंक्तिच्छन्दस्कामपनीय तस्याः स्थाने दाशतयीगते द्वे उत्पत्तिककुभौ ऋचौ गृहीतव्ये, कुतः ? अर्थवत्वात् । उदाहृतेन ककुभावुत्तरे, इति वाक्येन रथन्तरसाम्नः आश्रयत्वेन ककुभोर्विनियुज्यमानयोः ककुबुत्पत्तिरर्थवती भवति, अन्यथा वैयर्थ्यं स्यात् । किञ्च आम्नाताया एकस्याः पंक्तेः स्वीकारे सति ऋचोर्द्वयोरेव लाभात् 'एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्'–इति वचनं विरुध्येत । तस्माद्रथन्तरसाम्नि द्वे ककुभावुत्तरे गृहीतव्ये । अयमेव न्यायो बृहत्सामन्यपि योजनीयः इति प्राप्ते, ब्रूमः––आम्नातयोर्बृहतीपंक्त्योरेव ककुब् ग्रथनीया । तथाहि अभि त्वा शूरेत्येषा बृहती प्रथमा स्तोत्रिया, तस्यामविकृतायामेव रथन्तरं गातव्यम् । ततस्तस्यामृचि चतुर्थं पादं पुनरुपादायोत्तरस्याः पंक्तेः पूर्वार्द्धेन सह योजनीयम्, सेयमष्टाविंशत्यक्षरा त्रिपदा द्वितीया स्तोत्रिया, सा चैका ककुप् सम्पद्यते । तस्यां ककुभि चरमं पादं पंक्तेरुत्तरार्द्धेन सह प्रग्रथ्य तृतीया स्तोत्रिया कर्त्तव्या, स च द्वितीया ककुप् सम्पद्यते । प्रग्रथनप्रकारेण द्वयोर्ऋचोराम्नातयोः तृचनिष्पत्तेर्नास्त्युक्तो वचनविरोधः । अस्मिश्च ग्रथने 'पुनःपदा' इति श्रोतोक्तिर्लिङ्गम्, तथा च श्रूयते 'एषा वै प्रतिष्ठिता बृहती या पुनःपदा तद् यत् पदं पुनरारभते तस्माद् वत्सो मातरभिहिंकरोति' इति । अयमर्थः–या बृहती पुनःपदा भवति, सैषा प्रतिष्ठिता स्थिरा भवति;

पदं चतुर्थः पादः, सोऽप्यृगन्तरसम्पादनाय पुनः पठ्यते, ततः सा बृहती पुनःपदा, सेयमृङ् माता, तस्या पादो वत्सः; तथा सति यस्मादत्र चतुर्थं पादमुद्गाता पुनरारभते तस्माद् वत्सो मातरमभिवीक्ष्य हिमिति शब्दं करोतीति ।

न केवलं लिङ्गमात्रेण प्रग्रथनं, किन्तु छन्दोगानां प्रसिद्ध्यापि; ते ह्येवं स्मरन्ति 'काकुभः प्रगाथः' इति । किञ्च प्रगाथशब्दार्थपर्यालोचनेनापि ग्रथनं गम्यते । प्रकर्षेण ग्रथनं यत्र स प्रगाथः । प्रकर्षो नाम आम्नातादृक्-पाठादाधिक्यम् । तच्च पूर्वोक्तरीत्या पादाभ्यासपुरःसरमृगन्तरसम्पादनेनो-पजायते । तस्मान्नोत्पत्तिककुभौ ग्रहीतव्ये, किन्तर्हि ? प्रग्रथनेन द्वे उत्तरे ककुभौ सम्पाद्य तासु तिसृषु रथन्तरं गातव्यम् । तथा बृहदपि । एवं सति पंक्ते पाठः सार्थो भवति; नचैवं ककुबुत्पत्तिवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, वाच-स्तोमे तदुपयोगात् ; तस्मान्न कापि प्रग्रथने अनुपपत्तिः" इति ॥

बृहतीविष्टारपङ्क्त्योः प्रग्रथनविशेषेण द्वयोर्बृहत्योः सम्पादनम् ।

द्वितीयं वर्णकम्—

"यौधाजये रौरवे च बृहत्योरागमोऽथवा ।
ग्रथनं पूर्ववत् पक्षौ षष्टिलिङ्गमिहोच्यते ॥

इदमाम्नायते 'रौरवयौधाजये बार्हते तृचे भवतः' इति [ताण्ड्य ब्रा० ७ । ३] अयमर्थः रौरवनामकं किञ्चित् साम [ऊहगान १ । २] तथा, यौधाजयनामकमपरम् [ऊहगान १ । ३] तयोः साम्नोर्बृहतीच्छन्दस्कस्तृच आश्रय इति । उत्तराग्रन्थे तु तस्य सामद्वयस्याश्रय एकः प्रगाथः आम्नातः, तस्मिंश्च प्रगाथे 'पुनानः सामेत्यसावृक् प्रथमा, सा च बृहती; दुहान ऊर्धद्-व्यमिति द्वितीया, सा तु विष्टारपङ्क्तिः । तामेतां विष्टारपंक्तिमपनीय तस्याः स्थाने उत्पत्तिबृहत्यौ द्वे ऋचौ आनेतव्ये इति पूर्वपक्षः । बृहतीविष्ठार-पंक्तयोः प्रग्रथनविशेषेण द्वे बृहत्यावुत्तरे सम्पादनीये इति राद्धान्तः । तत्रो-भयत्र युक्तिः पूर्वन्यायेन द्रष्टव्या । लिङ्गं त्वेवमाम्नायते 'षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यन्दिनं सवनम्' इति, अयमर्थः रौरवयौधाजयनामके सामनी माध्यन्दिने सवने गीयेते । तस्मिंश्च सवने त्रिष्टुप्छन्दस्का ऋचः षष्टिर्भवन्तीति, सेयं षष्टिसंख्या प्रग्रथनपक्षे उपपद्यते । तथाहि, माध्यन्दिने सवने पव-मान एकः पृष्टस्तोत्राणि चत्वारि । पवमाने त्रीणि सूक्तानि । उच्चाते-जातमित्येकं सूक्तम्, तत्र गायत्र्यस्तिस्र ऋचः; पुनानः सोमेति द्वितीयं सूक्तम् । तच्च प्रगाथ रूपम्, तत्र पूर्वा बृहती उत्तरा विष्टारपंक्तिः; 'प्रतुद्रव परि कोशमिति' तृतीयं सूक्तम्, तत्र त्रिष्टुभस्तिस्रः । पृष्ठ-स्तोत्रेषु 'अभि त्वा शूरेति' प्रगाथरूपं प्रथमं सूक्तम् । तत्र पूर्वा बृहती उत्तम विष्टारपक्तिः, 'कया नश्चित्र' इति द्वितीयं, तत्र तिस्रः गायत्र्यः । तं वोदस्ममृतीषहमिति तृतीयं प्रगाथरूपं, तत्र बृहतीपंक्त्यौ । 'तरोभिर्वो विदद्वसुमिति' प्रगाथरूपं चतुर्थः तत्रापि बृहतीपंक्त्यौ । एवमन्यस्मिन्

सवने सप्त सूक्तानि । तेषु नव सामानि गेयानि । प्रथमे सूक्ते गायत्रमामहीयवं चेति द्वे सामनी, द्वितीये रौरवं योधाजयं च, तृतीये औशनम्, चतुर्थे रथन्तरम्, पञ्चमे वामदेव्यम्, षष्ठे नौधसम्, सप्तमे कालेयम् । तत्र, प्रथमसूक्तस्य सामद्वयनिष्पत्तये द्विरावृत्तावाश्रयभूता ऋचः षड् गायत्र्यो भवन्ति, पञ्चमसूक्तगता वामदेव्यसामाश्रयभूताः तिस्रः ऋचः सप्तदशस्तोमसिद्धयर्थमावर्त्यमानाः सप्तदश गायत्र्यः इत्येवं मिलित्वा त्रयोविंशतिर्गायत्र्यः । षष्ठे सूक्ते बृहतीपङ्क्तौ प्रग्रथनेन बार्हतस्तृचो भवति, यथा सप्तमेऽपि, तत्रोभयत्र सप्तदशस्तोमे सति चतुस्त्रिंशद् बृहत्यो भवन्ति; द्वितीयसूक्तेऽपि प्रग्रथनेन बार्हतं तृचं सम्पाद्य सामद्वयार्थमावृत्तौ षड् बृहत्यो भवन्ति । चतुर्थसूक्ते रथन्तरसामार्थं पूर्ववर्णकोक्तरीत्या प्रग्रथने सति ककुभावुत्तरे भवतः, प्रथमा तु स्वतःसिद्धबृहती तत्र सप्तदशस्तोमे सति पञ्च बृहत्यो द्वादश ककुभश्च सम्पद्यन्ते । तस्य च स्तोमस्य विधायकं ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया, पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः इति (ताण्डच २ । ७)

अयमर्थः—एका स्वतःसिद्धा बृहती, प्रग्रथिते द्वे ककुभावित्येवं विधस्तृचस्त्रिभिः पर्य्यायैरावर्त्तनीयः, प्रथमे पर्याये त्रिर्बृहती गातव्या, सकृत् सकृत् ककुभौ, द्वितीये पर्याये सकृद बृहती त्रिवारमन्तरा ककुप् सकृदन्त्या । तृतीये पर्याये सकृद् बृहती, त्रिस्त्रिः ककुभाविति । हिङ्करोति हिङ्कारोपलक्षितं गानं कुर्यादित्यर्थः । तदेवं तृतीयसूक्तव्यतिरिक्तेषु षट्सु सूक्तेषु त्रयोविंशतिगायत्र्यः पञ्चचत्वारिंशद् बृहत्यो द्वादश ककुभः सम्पन्नाः, तत्र ककुप् अष्टाविंशत्यक्षरा, तस्यां षोडशाक्षरे गायत्रीपादद्वये योजिते चतुश्चत्वारिंशत्यक्षरा त्रिष्टुप् सम्पद्यते । अनया दिशा द्वादशानां ककुभां त्रिष्टुप्त्वसम्पादनाय चतुर्विंशतिर्गायत्रीपादा योजनीया; तथा सत्यष्टौ गायत्र्यो गताः, पञ्चदश गायत्र्योऽवशिष्यन्ते । तासां पञ्चचत्वारिंशत् पादाः, तांश्च तावतीषु बृहतीषु संयोज्य त्रिष्टुभः सम्पादनीयाः । तत एताः पञ्चचत्वारिंशत् ककुप्सु निष्पन्नाः द्वादश । तृतीये सूक्ते स्वतःसिद्धा तिस्रः इत्येवं प्रग्रथनपक्षे षष्टिस्त्रिष्टुभ उत्तराग्रन्थे समाम्नाता इव लभ्यन्ते । उत्पत्तिबृहत्यानयने तु प्रकरणाम्नातानां तावतीनामलाभात् प्रकृतहानाप्रकृतकल्पने प्रसज्येयाताम् । तस्मात् त्रिष्टुभः षष्टिरित्येतद् बृहतीप्रग्रथनस्य लिङ्गम् । प्रग्रथनप्रकारस्त्वभिधीयते—पुनानः सोमेत्यस्या बृहत्याश्चतुर्थपादं पुनरुपादाय द्विरभ्यस्य दुहान उधर्दिव्यमित्यस्या विष्टारपङ्क्ते पूर्वार्द्धेन संयोजयेत्, सा बृहती भवति; एतदीयं चतुर्थं पादं द्विरभ्यस्योत्तरार्द्धेन योजयेत्, सापि बृहती भवति; तस्माद् यौधाजयरौरवयोर्बृहत्यौ उत्तरे प्रग्रथनीये । एवं नौधसकालेययोरपि द्रष्टव्यम्" इति ॥

षड्भिर्गायत्रीभि-स्तिसृणां जगतीनां सम्पादनादिकम्

तृतीयवर्णकम्—

"श्यावाश्वान्धीगवेऽनष्टु नेये ग्रथ्यतेऽथवा।
पुरेव लिङ्गं जगती चतुर्विंशतिकीर्तनम्॥

इदमाम्नायते—'पञ्चछन्दा आवापः आर्भवः पवमान सप्तसामा, गायत्र-संहिते गायत्र्ये तृचे भवतः, श्यावाश्वान्धीगवे आनुष्टुभे तृचे भवः, उष्णिहि सफम्, ककुभि पौष्कलम्, कावमन्त्यं जगतीषु' इति। अयमर्थः—अस्ति तृतीयसवने पवमानः आर्भवसंज्ञकः, तस्मिन् पञ्च सूक्तानि, सप्त सामानि। 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया' इत्येकं सूक्तम् [उ० आ० १। १५], तस्मिन् गायत्र्यस्तिस्र ऋचः तासु 'गायत्रं' 'संहितं' [ऊ० गा० १।८] चेति द्वे सामांनी। 'पुरोजितीवो अन्धसः' इति सूक्तान्तरम् [उ० आ० १।१८] तत्रैकानष्टुबुत्तरे द्वे गायत्र्यौ। तासु 'श्यावाश्वम्' [ऊ० गा० १ प्र, ११] 'आन्धीगवं' [ऊ० गा० १प्र, ११] चेति द्वे सामनी; 'इन्द्रमच्छ सुता' इत्यपरं सूक्तम् [उ० आ०, १ प्र, १७] तस्मिन्नुष्णिहस्तिस्रः तासु 'सफं' साम। 'पवस्व मधुमत्तम' इति प्रगाथः [उ० आ० १। १६], तस्मिन् पूर्वा ककुप्, उत्तरा पंक्तिः 'तत्र पौष्कलं'। 'अभिप्रियाणि पवते च नोहितः' इत्यन्तं सूक्तम् [उ० आ० १।१६] तत्र तिस्रो जगत्यः तासु 'कावं' [ऊह, १ प्र १३] साम। एतेषां पञ्चानां मध्ये, 'पुरोजिती वः,' 'पवस्व' इत्यनयोः सूक्तयोः यद्यपि द्वे द्वे छन्दसि, तथापि समासु गानं निष्पादयितुं प्रग्रथने कृते सति एकमेव छन्दः सम्पद्यते, ततो गायत्र्यानुष्टुबुष्णिक्कुब्जगतीभिः पञ्चच्छन्द आर्भव पवमानोऽस्मिन् सवने आवपनीय इति। तत्र 'पुरो जितीवः' इत्यस्मिन् सूक्ते श्यावाश्वमान्धीगवं च समासु गातुमुत्तरे गायत्र्यावाम्नाते परित्यज्य द्वे उत्पत्यनुष्टभौ नेतव्ये इति पूर्वपक्षः। चतुर्थं पाद पुनरुपादाय द्वे अनुष्टुभौ प्रग्रथनीये इति राद्धान्तः।

तत्रोभयत्र पूर्ववर्णकद्वयन्यायेन युक्तिर्द्रष्टव्या। लिङ्गं त्वेवमाम्नायते 'चतुर्विंशतिर्जगत्यस्तृतीय सवन एकां च ककुबिति' सेयं सङ्ख्या प्रग्रथनपक्षे उपपद्यते। तथाहि गायत्रसंहितयोः साम्नोराश्रये गायत्रे तृचे द्विरभ्यस्ते सति षट् गायत्रो भवन्ति। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगति। ततः षड्भिः गायत्रीभिः तिस्रो जगत्य भवन्ति, श्यावाश्वान्धीगवयोराश्रयभूताः प्रग्रथिता, द्विरभ्यस्ताः षनुष्टुभो भवन्ति। ताभिश्च तिस्रो जगत्यो भवन्ति मिलित्वा सप्त जगत्यः सम्पन्नाः। सफस्य पौष्कलस्य च सामान्तरवत्तृचे गानं न कर्त्तव्यम् किन्त्वेकैकस्यामृचि। तत् कुतोऽवगम्यते ? उष्णिहि ककुभीति सप्तम्येकवचनान्ताभ्यां विशेषविधानात् [ताण्ड्य ८ प्रपा०]। अष्टाविंशत्यक्षरयोरुष्णिक्ककुभोरेका जगती गायत्रीपादश्च सम्पद्यते। ककुभि मध्यमः पादो द्वादशाक्षरः उष्णिहि च परः पादः इति तयोर्भेदः। कावस्याश्रयभूताः स्वतःसिद्धा तिस्रो जगत्य इति मिलित्वा पवमानेऽस्मिन्ने-

कादश जगत्यो भवन्ति, गायत्रीपादश्चातिरिच्यते। आर्भवपवमानवत्तृतीय-सवने यज्ञायज्ञीयस्तोत्रमेकमस्ति। तस्य चाश्रयः 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' इत्यसौ प्रगाथः (उ० आ० १।१०), तत्र पूर्वा बृहती उत्तरा विष्टारपंक्तिः। तयोः प्रग्रथनेन ककुभावुत्तरे कर्त्तव्ये। तत्रैकविंशस्तोमः तस्य विधायिका विष्टतिरेवमानायते—'सप्तभ्यो हिं करोति स तिसृभिः स तिसृभिः स तिसृभिः, सप्तभ्यो हिं करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः' इति। अयमर्थः—प्रथमायाः बृहत्यास्त्रिषु पर्यायेषु त्रिवारमेकवारं पुनस्त्रिवारमिति सप्त बृहत्यः, मध्यमायाः ककुभः प्रथमद्वितीययोः पर्याययोस्त्रिस्त्रिः पाठः, अन्त्ये सकृत्, उत्तमायाः ककुभः आदौ सकृत् द्वितीयतृतीययोस्त्रिस्त्रिः, एवं चतुर्दश ककुभः। तासु ककुप्सु द्वादशाक्षराः मध्यमपादाश्चतुर्दश, तेषु सप्तपादाः सप्तसु बृहतीषु योजनीयाः, ततः सप्त जगत्यो भवन्ति, अवशिष्टा अष्टाक्षराः ककुभामाद्यपादा अन्त्यपादाश्च, मिलित्वाष्टाविंशतिः। तेषु षड्भि पादौ; एका जगतीत्यनेन क्रमेण चतुर्विंशतिपादैश्चतस्रो जगत्यो भवन्ति; ये तु द्वादशाक्षराः सप्तपादाः पूर्वमवशिष्टाः तेषु पवमानशेषोऽष्टाक्षरः पादो योजनीयः, ककुभांशेष्वेष्वष्टाक्षरेषु पादेषु चत्वार्य्यक्षराणि योजनीयानि, ते द्वे जगत्यौ भवतः; तदेवं यज्ञायज्ञीयस्तोत्रे त्रयोदश जगत्यः पूर्वोक्ताः पवमानगता एकादशेति चतुर्विंशतिर्जगत्यः. चतुरक्षरवर्जिताश्चत्वारोऽष्टाक्षरपादाः मिलित्वा ककुभेका भवति अनेन लिङ्गेन श्यावाश्वमान्धीगवं च प्रग्रथिततृचे गातव्यम्, न तु तत्रोत्पत्त्यनुष्टुबानयनमिति स्थितम्" इति॥

पादप्रग्रथने विचारः

चतुर्थवर्णकम्—

"चतुःशते प्रग्रथनमृचः पादस्य वाग्रिमः।
तृचे मुख्यत्वतो नैवमृगन्यत्वस्य वर्णनात्॥

गवामयने ब्रह्म साम विहितम् 'अभिवर्तो ब्रह्मसाम भवति' इति। तत्प्रकृत्य श्रूयते 'चतुःशतमैन्द्रा बार्हताः प्रगाथाः' इति (लाट्या०सू० १०।३)। चतुरुत्तरशतसङ्ख्याकाः इन्द्रदेवताकाः बृहतीच्छन्दस्काः, ऋगद्वयात्मकाः, तेष्वेकप्रगाथगते द्वे ऋचौ द्वितीयप्रगाथगतामेकामृचं च प्रग्रथ्य तृचे 'अभिवर्त्त'—नामकं साम गातव्यम्। तथा सत्याम्नातानामविकृतानामेव तिसृणामृचां लाभात् तृचस्य मुख्यत्वं भवति, पूर्वोक्तरीत्या पादप्रग्रथने तु विकृतत्वादमुख्यस्तृचः स्यात् इति प्राप्ते, ब्रूमः—अन्याः अन्याः ऋचो भवन्ति तदेव सामेत्यृचामन्यत्वमत्र वर्ण्यते। तच्च पादप्रग्रथने सम्भवति, ऋक्प्रग्रथने तु येयमृक् पूर्वस्य तृचस्यान्त्या सैवोत्तरस्य तृचस्याद्येत्यन्यत्वमृचः न स्यात्। तस्मात् पादस्य प्रग्रथनम्" इति॥

यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायती- ति विधानमूलको विचारः- स्तथाकरणप्रकारश्च

तत्रैव नवमदशमयोरधिकरणयोः अपरविशेषौ चिन्तितौ। नवमाधिकरणम्—

"आइभावो योनिवशादुत्तरावशतोऽथवा।
गीत्यर्थत्वादादिमोऽन्त्यो वर्णाभिव्यञ्जकत्वतः॥

'यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति' इति श्रूयते, तत्र 'कया नश्चित्र आभुवत्' (उ० आ० १।१२।१) इति इत्यसावृग्योनिः। तस्यामृचि 'कया' इत्क्षरद्वय-माद्यो भागः, नश्चित्र आभुवदित्यक्षरषट्कं द्वितीयो भागः। तस्मिन् भागे द्वितीयाक्षरे चकारस्योपरितनमिकारं विलोप्य तस्य स्थाने आइभाव-माम्नाय गीतिर्निष्पादिता। 'कस्त्वा सत्योमदानामि' त्यनन्तर्भाविन्युत्तरा, (उ० आ० १।१२।२) तस्यां योनिन्यायेन चतुर्थाक्षरे नकारस्योपरितनं यकारमोकारं च लोपयित्वा तयोः स्थान आइभावः कार्यः। 'अभी षु णः' असावपरोत्तरा (उ० आ० १।१२।३)। तस्यामपि चतुर्थाक्षरे णकार-स्योपरितनं सकारं लोपयित्वा तस्य स्थाने आइभावः कर्त्तव्यः, अन्यथा गीतिनाशप्रसङ्गात् इति प्राप्ते, ब्रूमः—नात्र योनौ वर्णान्तरस्यागमः, किन्तर्हि ? विद्यमान एव चकारस्योपरितनः इकारः सामप्रसिद्धया प्रक्रियया वृद्धः सन्नैकारो भवति, तस्य सन्ध्यक्षरत्वात्, 'अकारः पूर्वो भागः, ईकारः उत्तर भागः', तावुभौ विश्लेषेण गीयमानौ आइभावं प्रतिपद्येते, तथा च सामगा आहुः 'वृद्धं तालव्यमाइ भवति' इति तथा सत्युत्तरयोश्चतुर्थाक्षरे नास्ति तालव्य इकारः इत्याइभावः न कर्त्तव्यः। 'अभि षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्' इत्येतस्यामुत्तरायां द्वादशाक्षरगतस्य रेफस्योपरितनः इकारः पूर्ववदाइ भवति। तथा सोऽयमाइभावः उक्तरीत्या वर्णाभिव्यञ्जकत्वादुत्तरा-गतवर्णवशेन कर्त्तव्यः, गीत्यर्थत्वाभावेन योनिक्रमे तेन विनापि गीति-र्विनश्यति" इति।

उत्तरयोः स्तोभाति- देशकथनम्

दशमाधिकरणम्—

"स्तोभानात प्रदिश्यन्ते नागीतित्वेन वर्णवत्।
स्वरादिवत प्रदिश्यन्ते गीतिकालोपयोगतः॥

वामदेव्यसाम्नः योनौ द्वयोरर्द्धयोर्मध्ये औकारद्वयेन होशब्देन हायि-शब्देन च निष्पन्नः स्तोभः एवमाम्नातः 'औऽ३ हा हायि' इति। सोऽयं स्तोभः नोत्तरयोः अतिदिश्यते, कुतः ? अगीतित्वात् 'यदयोन्यां तदुत्तरयोर्गायति'— इति गीतिमात्रमतिदिश्यते। तत्र प्रथमाया ऋचः वर्णाः यथा नातिदिश्यन्ते तथा स्तोभा अपि इति प्राप्ते, ब्रूमः—स्वरो वर्णविश्लेषो विराम इत्येते गीत्यु-पयोगित्वाद् यथातिदिश्यन्ते तथा स्तोभा अपि गीतिकालपरिच्छेदकत्वा-दतिदिश्यन्ते" इति॥

सामवेदिनां साम्नवानुष्ठानकर्त्तव्यतानिरूपणम्

अष्टमाधिकरणद्वितीयवर्णके क्वचिदुत्पन्ना गानाभावशङ्का निवारिता—

"गानस्य नियमो नोत विद्यते वह्न्युपस्थितौ ।
नाम्नानद्वयतोऽस्त्येव प्रकृतत्वाछ्रुतेरपि ।।

क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते—'अयं सहस्रमानव इत्येतया ह्वनीयमुपनिष्ठते'—इति असावृग् संहिता ग्रन्थे (पू० आ० ५।८।८) समाम्नाता, प्रगीता गानग्रन्थे (गेय गान १२।१।२९)। ततो वह्न्युपस्थाने तस्यामृचि गानं न नियतं किन्तु विकल्पितम्-इति प्राप्ते, ब्रूमः—अस्त्येव नियमो गाने, कुतः ? सामवेदे गानस्यैव प्रकृतत्वात्, ऋचां संहितापाठोऽत्र गानायैव, नह्याधारमन्तरेण गातुं शक्यते। अथोच्येत 'अयं सहस्रेत्यृकप्रतीकपूर्वकेण वाक्येनोपस्थानविधानाद् वाक्यस्य प्रकरणात् प्रबलत्वादृचैवोपस्थानम् इति, तन्न प्रकृतप्रगीतमन्त्रवाचिन्या एतयेति सर्वनामश्रुतेः प्रबलतरत्वात्। तस्मात् प्रगीतयोरुपस्थानम्"—इति

बृहत्पृष्ठादिषु धर्मसाङ्कर्यचिन्तनम् ।

पञ्चदशाधिकरणादिषु त्रिषु धर्मसाङ्कर्यं चिन्तितम् ।
पञ्चदशाधिकरणम्—

"बृहद्रथन्तरैर्धर्मैः सङ्कीर्णे वा व्यवस्थिते ।
पृष्ठैक्यात् सङ्करो धर्मे निर्देशादेर्व्यवस्थितिः ।।

ज्योतिष्टोमे विकल्पनं पृष्ठस्तोत्रे विहितम् 'बृहत् पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवति' इति। तत्रोभयत्र धर्माः श्रुताः—'बृहति प्रस्तूयमाने मनसा समुद्रं ध्यायेत्, रथन्तरे प्रस्तूयमाने सम्मीलयेत्' इत्यादयः (ताण्ड्य ७।७) ते उभयत्र सङ्कीर्येरन्, पृष्ठसिद्धिलक्षणस्य कार्यस्यैकत्वात्—इति चेत्? न, निर्देशभेदात्, साङ्कर्ये त्ववैलक्षण्येन बृहदिति रथन्तरमिति च द्वौ निर्द्देशौ नोपपद्येयाताम्; किञ्चोभयधर्मसाहित्यं विरुद्धम्। उच्चैर्गेयं बलवद् गेयमिति बृहद्धर्मः। नोच्चैर्गेयं न बलवद् गेयमिति रथन्तरधर्मः। तस्मादुभयोर्धर्मा व्यवतिष्ठते" इति ।।

बृहद्रथन्तरयोर्धर्मसमुच्चयकथनम् ।

षोडशाधिकरणम्:—

"तयोर्धर्माः समुच्चेया न वा कण्वरथन्तरे।
द्विस्थानत्वाद् भाष्य आद्यो विरोधाद् वार्त्तिकेऽन्तिमः ।।

वैश्यस्तोमे 'कण्वरथन्तरं पृष्ठं भवति' इति श्रूयते। तत्र कण्वरथन्तराख्यसाम्नः पृष्ठस्तोत्रसाधनयोः प्राकृतयोः बृहद्रथन्तरयोरुभयाः स्थाने पतित्वादुभयसम्बन्धिधर्माः समुच्चेतव्याः। ये तु विरुद्धाः धर्माः उच्चैर्गेयं नोच्चैर्गेयमित्यादयः ते विकल्पन्ताम्, समुद्रध्याननिमीलनादीनां विरोधाभावात् प्रकृताविव निर्देशभेदस्यात्राभावाच्च समुच्चयः इति भाष्यकारस्य

मतम् । विकल्पितयोरेव द्वयोः स्थाने पतितत्वाद् विरुद्धधर्मस्वारस्याच्च विकल्प एव युक्तो, न तु समुच्चयः इति वार्त्तिककारस्य मतम् । तत्रोभयत्र तत्तन्मतविपरीतः पूर्वपक्षः उन्नेयः" ॥

पृष्ठशब्दस्य वैदिकनामधेयत्वकथनम्

सप्तदशाधिकरणम्—

"द्विसामके द्वयोधर्मं साङ्कर्यं का व्यवस्थितिः ।
पृष्ठैक्यात् सङ्करो मैवं धर्माणां सामगत्वतः ॥

'गोसव उभे कुर्यात्' इत्यादिना गोसवादौ बृहद्रथन्तरसामद्वयसाध्यं पृष्ठस्तोत्रं विहितम् । तत्र पृष्ठस्तोत्रस्यैकत्वेन धर्मव्यवस्थायाः असम्भवात् बृहत्युभयधर्माः कर्त्तव्याः, रथन्तरेऽप्युभयधर्माः, इत्येवं साङ्कर्यमिति चेत् ? मैवम् । नह्येते पृष्ठस्तोत्रप्रयुक्ताः धर्माः किन्तु सामप्रयुक्ताः । ततः 'साम्नो भेदात् धर्मा व्यवतिष्ठन्ते' इति व्यवस्थितधर्मोपेताभ्यां बृहद्रथन्तरनामकाभ्यां सामभ्यां निष्पन्नस्तोत्रस्य पृष्ठमिति वैदिकं नामधेयम्, यथा त्रिवृच्छब्दस्यार्थो वेदप्रसिद्धो गृहीतः तद्वत्"

'त्रिवृत्' इति शब्दविषयको विचारः ।

स च त्रिवृच्छब्दः प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे पञ्चमाधिकरणस्यान्तिमे वर्णके विचारितः—

"लौकिको वाक्यगो वार्थस्त्रिवृदादेः समत्वतः ।
उभौ विध्यर्थवादैकवाक्यत्वादस्त्विहान्तिमः ॥

'त्रिवृद् बहिष्पवमानम्' (ताण्ड्य ब्रा० २।१४) इति श्रुतौ त्रिवृच्छब्दस्य त्रैगुण्यं लोकसिद्धोऽर्थः वाक्यशेषादृक्त्रयात्मकेषु सूक्तेष्ववस्थितानां बहिष्पवमानात्मकस्तोत्रनिष्पादनक्षमाणाम् 'उपास्मै गायता नरः' (उ० आ० १।१२।३) इत्यादीनामृचां नवकमर्थः । तत्र धर्मनिर्णये वेदस्य प्रबलत्वेऽपि पदपदार्थनिर्णये लोकवेदयोः समानबलवत्त्वात् उभावर्थौ विकल्पेन गृहीतव्यौ, इति चेत् ? मैवम्, लौकिकार्थस्वीकारपक्षे विधिवाक्ये त्रैगुण्यमर्थः, अर्थवादवाक्ये स्तोत्रियाणामृचां नवकम्, इत्येवं विध्यर्थवादयोर्वैयधिकरण्यादेकवाक्यत्वं न स्यात् । अतः एकवाक्यत्वाय स्तोत्रियाणां नवकमेव विधिवाक्ये नियतोऽर्थः" ॥

चित्राशब्दस्य नामधेयत्वनिर्णयः ।

पृष्ठशब्दस्य नामधेयत्वं प्रथमाध्याये चतुर्थपादस्य तृतीयाधिकरणे चित्राशब्दवन्निर्णीतम्—

"यच्चित्रया यजेतेति तद्गुणो नाम वा भवेत् ।
चित्रस्त्रीत्वगुणौ रूढेरग्नीषोमीयके पशौ ॥
द्वयोर्विधौ वाक्यभेदो वैशिष्ट्ये गौरवं ततः ।
स्यान्नाम पृष्ठाज्यबहिष्पवमानेषु तत् तथा ॥

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्याम्नायते । तत्र चित्राशब्दो नोद्भिद्-शब्दवद् यौगिकः, किन्तु रूढ्या चित्रत्वं स्त्रीत्वं चाभिधत्ते । ततो न पूर्वन्यायेन

नामत्वं, तथा सति अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति विहितपशुयागमत्र यजेतेति-पदेनानूद्य तस्मिन् पशौ चित्रत्वस्त्रीत्वगुणौ विधीयेते इति प्राप्ते ब्रूमः–चित्रत्वं स्त्रीत्वं चेति द्वावेतौ गुणौ, तयोर्विधाने वाक्यं भिद्येत। तथा चोक्तम्––

प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयेरन् बहवोऽप्येकयत्नतः' ॥ इति

अथ वाक्यभेदपरिहाराय गुणद्वयविशिष्टं पशुद्रव्यरूपं कारकं विधीयेत, तदा गौरवं स्यात्। तस्माच्चित्राशब्दः पूर्ववत् यजिसामानाधिकरण्येन यागनामधेयं भवति, चित्रत्वं च तस्य विलक्षणद्रव्यद्वारेणोपपद्यते। 'दधि मधु घृतमापो धानास्तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्'–इति 'दध्यादीनि विचित्राणि प्रदेयद्रव्याणि षडाम्नातानि' (ताण्ड्य २६) तदेतच्चित्रानामकस्य यागस्योत्पत्तिवाक्यम्। यागस्वरूपभूतयोः दध्यादिद्रव्यप्रजापतिदेवतयोः अत्रोपदिश्यमानत्वात्। उत्पन्नस्य तस्य यागस्य 'चित्रया यजेत पशुकामः'–इत्येतत् फलवाक्यम्। एवं सति प्रकृतार्थो लभ्येत, अग्नीषोमीयपश्वनुवादेन गुणविधाने प्रकृतिहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्, लिङ्प्रत्ययस्य चानुवादकत्वाङ्गीकारान्मुख्यो विध्यर्थो बाध्येत तस्माच्चित्रापदं नामधेयम्" ॥

बहिष्पवमानशब्दादीनां नामधेयत्वनिर्णयः। यथा चित्राशब्दे नामधेयत्व तथा बहिष्पवमानशब्दे आज्यशब्दे पृष्ठशब्दे च तत्कर्मनामधेयत्वं योजनीयम्। एवं हि श्रूयते (ताण्ड्य२०)–'त्रिवृद् बहिष्ववमानम्, पञ्चदशान्याज्यानि, सप्तदशानि पृष्ठानि; इति। अस्य वाक्यत्रयस्यार्थो विविच्यते–सामगानामुत्तरा ग्रन्थे तृचात्मकानि सूक्तान्याम्नातानि। तत्र 'उपास्मै गायता नरः'–इत्याद्यं सूक्तम्। 'दविद्युतत्या रुचा'–इति द्वितीयम्। 'पवमानस्य ते कवे' तृतीयम्। ज्योतिष्ठोमस्य, प्रातःसवनानुष्ठाने तेषु त्रिषु सूक्तेषु गायत्रं साम गातव्यम्। तदिदं सूक्तत्रयगानसाध्यं स्तोत्रं बहिष्पवमानमित्युच्यते। तत्रावस्थितानामृचां पवमानार्थत्वाद्बहिःसम्बन्धाच्च।

त्रिवृदादिस्तोमानां स्वरूपनिरूपणम् न खल्विदं स्तोत्रम् इतरस्तोत्रवत् सदोनामकस्य मण्डपस्य मध्ये औदुम्बर्याः स्तम्बशाखायाः सन्निधौ प्रयुज्यते, किन्तु सदसो बहिः प्रसर्पद्भिः प्रयुज्यते। तस्य च बहिष्पवमानस्य त्रिवृन्नामकः स्तोमो भवति, तस्य च स्तोमस्य विधायकं ब्राह्मणवाक्यमेवमाम्नायते (ताण्ड्य २। १–३)–'तिसृभ्यो हिं करोति स प्रथमया, तिसृभ्यो हिं करोति स मध्यमया, तिसृभ्यो हिं करोति स उत्तमयोद्यतो त्रिवृतो विष्टुतिरिति'।

अयमर्थः–सूक्तत्रयपठितानां नवानामृचां गानं त्रिभिः पर्यायैः कर्त्तव्यम्।

तत्र प्रथमपर्य्याये त्रिषु सूक्तेषु आद्यास्तिस्र ऋचः द्वितीये पर्य्याये मध्यमाः, तृतीये पर्याये चोत्तमाः । तिसृभ्य इति तृतीयार्थे पञ्चमी, हिं करोति गायतीत्यर्थः । सेयं यथोक्तप्रकारोपेता गीतिस्त्रिवृत्स्तोमस्य त्रिष्टुतिः स्तुतिप्रकारविशेषः । अस्याः विष्टुतेरुद्यती नामेति । एवं परिवर्त्तिनी कुलायिनीति द्वे विष्टुती । तयोः परिवर्तिन्येवमाम्नायतु (ताण्ड्य २।१)–'तिसृभ्यो हिं करोति स पराचीभिः, तिसृभ्यो हिं करोति स पराचीभिः, तिसृभ्यो हिं करोति स पराचीभिः, परिवर्त्तिनी त्रिवृतो विष्टुतिः'–इति । पराचीभिः अनुक्रमेणाम्नाताभिरित्यर्थः । कुलायिन्येवमाम्नायते–'तिसृभ्यो हिं करोति स पराचीभिः, तिसृभ्यो हिं करोति या मध्यमा सा प्रथमा, या उत्तमा सा मध्यमा, या प्रथमा सोत्तमाः; तिसृभ्यो हिं करोति योत्तमा सा प्रथमा, या प्रथमा सा मध्यमा, या मध्यमा सोत्तमा, कुलायिनी त्रिवृतो विष्टुतिः'–इति । अत्र प्रथमसूक्ते पाठक्रम एव, द्वितीये मध्यमोत्तमप्रथमाः, तृतीये तूत्तमप्रथममध्यमाः इत्येवं व्यत्ययेन मन्त्राः गातव्याः । तदिदं विष्टुतित्रयं विकल्पितम् । त्रिवृच्छब्दस्येदृशं स्तोमस्वरूपमर्थः, न तु त्रैगुण्यमिति पूर्वपादे निर्णीतम् ॥

उत्तराग्रन्थे बहिष्पवमानसूक्तेभ्यः त्रिभ्यः ऊर्द्ध्वं चत्वारि सूक्तान्याम्नातानि–'अग्न आयाहि वीतये' (उ० आ० १ । ४) इत्याद्यं सूक्तम् । 'आ नो मित्रावरुणा' (उ० आ० १।५) इति द्वितीयम् । 'आयाहि सुषुमाहित' (उ० आ० १ । ६) इति तृतीयम् । 'इन्द्राग्नी आगतं सुतम्' (उ० आ० १ । ७) इति चतुर्थम् । तान्येनानि प्रातःसवने गायत्रसाम्ना गीयमानानि चत्वार्य्याज्यस्तोत्राणीत्युच्यन्ते । तन्निर्वचमं श्रूयते–'यदाजिमीयुस्तदाज्यानामाज्यत्वम्'–इति (ताण्ड्य ७ । २) तेष्वाज्यस्तोत्रेषु पञ्चदशनामकः स्तोमो भवति । तस्य स्तोमस्य विष्टुतिरेवमाम्नायते–'पञ्चभ्यो हिं करोति स तिसृभिः स एकया स एकया, पञ्चभ्यो हिं करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, पञ्चभ्यो हिं करोति स एकया स एकया स तिसृभिः'–इति (ताण्ड्य ४।१) । एकं सूक्तं त्रिरावर्त्तनीयं, तत्र प्रथमावृत्तौ प्रथमाया ऋचस्त्रिरभ्यासः । द्वितीयावृत्तौ मध्यमायाः । तृतीयावृत्तावुत्तमायाः । सोऽयं पञ्चदशस्तोमः । उक्तेभ्यश्चतुर्भ्यः सूक्तेभ्यः उद्‌र्ध्वमुत्तराग्रन्थे त्रीणि माध्यन्दिनपवमानसूक्तान्याम्नाय तत उद्‌र्ध्वं चत्वारि सूक्तान्याम्नातानि, तेषु 'अभित्वा शूर नोनुमः' (उ० आ० १।११) इत्याद्यम् । 'कया नश्चित्र आ भुवत्' (उ० आ० १।१२) इति द्वितीयम् । 'तं वो दस्ममृतीषहम्' (उ० आ १ । १३) इति तृतीयम् । 'तरोभिर्वो विदद्वसुम्' (उ० आ० १ । १४) इति चतुर्थम् । एतानि क्रमेण 'रथन्तर'–(ऊह० १ प्र० १ सा) 'वामदेव्य' (ऊह० १ प्र ५ सा) 'नौधस' (ऊह० १ प्र ६ सा) 'कालेय' (ऊह० १ प्र ७ सा) सामभिर्माध्यन्दिनसवने गीयमानानि पृष्ठस्तोत्राणीत्युच्यते । स्पर्शनात् स्पृष्टानीत्येवं निरुक्ति-

द्रष्टव्या । तेषु स्तोत्रेषु सप्तदशस्तोमो भवति, तस्य स्तोमस्य विष्टुति-रेवमाम्नायते––'पञ्चभ्यो हिं करोति स तिसृभिः स एकया स एकया, पञ्चभ्यो हिं करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, पञ्चभ्यो हिं करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः'–इति। अत्र प्रथमावृत्तौ प्रथमायाः ऋचः त्रिरभ्यासः। द्वितीयावृत्तौ मध्यमायाः तृतीयावृत्तौ मध्यमोत्तमयोः। सोऽयं सप्तदश स्तोमः। अत्र त्रिष्वपि वाक्येषु त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशशब्दाः गुणविधायकत्वेन सम्मताः, यदि बहिष्पवमानाज्यपृष्ठशब्दा अपि गुणविधायकाः स्युः, तदा प्रत्युदाहरणम्। गुणद्वयविधानाद् वाक्यभेदः स्यात्। तस्माद् बहिष्पवमानादिशब्दाः स्तोत्रनामधेयानि, तैर्नामभिः कर्माण्यनूद्य त्रिवृदादिगुणाः विधीयन्ते'–इति ॥

पृष्ठादिस्तोत्राणां प्रधान-कर्मत्वनिर्णयः उक्तस्य पृष्ठादिस्तोत्रस्य प्रधानकर्मत्वं द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे पञ्चमाधिकरणे निर्णीतम्––

"प्रउगं शंसतीत्यादौ गुणतोत प्रधानता ।
दृष्टादेव स्मृतिस्तेन गुणता स्तोत्रशस्त्रयोः ॥
स्मृत्यर्थत्वे स्तौतिशंस्योर्धात्वोः श्रौतार्थबाधनम् ।
तेनादृष्टमुपेत्यापि प्राधान्यं श्रुतये मतम् ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते–'प्रउगं शंसति', 'निष्केवल्यं शंसति', 'आज्यैः स्तुवते', 'पृष्ठैः स्तुवते'––इति । प्रउगनिष्केवल्यशब्दौ शस्त्र-विशेषनामनी, आज्यपृष्ठशब्दौ तु व्याख्यातौ । अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रं, प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम् । तयोः स्तुत-शस्त्रयोर्गुणकर्मत्वं युक्तं कुतः ? तुषविमोकवद् दृष्टार्थलाभात् । पठ्यमानेषु मन्त्रेषु अनुस्मरणेन देवता संस्क्रियते इति प्राप्ते, ब्रूमः–– तेषु अनुस्मरणेन स्तोतव्यायाः देवतायाः स्तावकैर्गुणैः संबन्धकीर्तनं स्तौतिशंसतिधात्वोर्वाच्योऽर्थः । यदि मन्त्रवाक्यानि गुणसम्बन्धाभिधान-पराणि, तदा धात्वोः मुख्यार्थलाभात् श्रुतिरनुगृहीता भविष्यति। यदा तु गुणद्वारेणानुस्मरणीयदेवतास्वरूपप्रकाशनपराणि मन्त्रवाक्यानि स्युः, तदा धात्वोः मुख्यार्थो न स्यात् । लोके हि देवदत्तश्चतुर्वेदाभिज्ञः' इत्युक्ते स्तुतिः प्रतीयते, तस्य वाक्यस्य गुणद्वारेण देवदत्तस्वरूपोपलक्षणपरत्वेन गुण-सम्बन्धपरत्वात्; यदा तु देवदत्तस्वरूपपरता 'यश्चतुर्वेदी तमानय' इत्यादौ, तत्र न स्तुतिप्रतीतिः, तस्य चतुर्वेदसम्बन्धद्वारेण देवदत्तस्वरूपपरत्वेन गुणसम्बन्धपरत्वाभावात् । ततश्चाज्यैर्देवं प्रकाशयेत्, पृष्ठैर्देवं प्रकाशयेत् इत्येवं विध्यर्थपर्य्यवसानाद् धात्वोर्मुख्यार्थो बाध्येत । ततो धातुश्रुतिम-बाधितुं स्तोत्रशस्त्रयोः प्रधानकर्मत्वमभ्युपेतव्यम् । तत्र दृष्टं प्रयोजनं नास्तीति चेत् ? ततोऽपूर्वमस्तु इति ॥

रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयसामगानप्रकारबोधनम्

तत्रैव द्वितीयपादे द्वादशाधिकरणे सामविशेषप्रयुक्तं कर्मान्तरत्वमभिहितम्—

"उक्त्वाग्निष्टुतमेतस्य वारवन्तीयसाम हि।
रेवतीष्वृक्षु कृत्वेति श्रुतं पशुफलाप्तये॥
रेवत्यादिर्गुणः कर्म पृथग्वा पूर्ववद् गुणः।
रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धाख्यः पशुप्रदः॥
साम्नोऽत्र फलकर्मभ्यां सम्बन्धे वाक्यभिन्नता।
तेनोक्तगुणसंयुक्तमन्यत् कर्मोच्यते फले॥

'त्रिवृदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यासु ऋक्षु एकविंशाग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत" (ताण्ड्य १६।७) इत्यस्य सन्निधौ श्रूयते (ताण्ड्य १७।८)—'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत'—इति। अस्यायमर्थः—अग्निष्टोमस्य विकृतिरूपः कश्चिदेकाहोऽग्निष्टुन्नामकः, स च पृष्ठस्तोत्रे त्रिवृत्स्तोमयुक्ततया त्रिवृदित्युच्यते। अग्निष्टोमावथादीनां सप्तानां सोमसंस्थानां मध्य अग्निष्टोमसंस्थारूपत्वादग्निष्टोम इत्यप्युच्यते। प्रकृतौ तृतीयसवने आर्भवपवमानस्योपरि 'यज्ञायज्ञीयं' साम गीयते, तेन च साम्ना अग्निष्टोमयागस्य समाप्यमानत्वादग्निष्टोमसामेत्युच्यते। तच्च प्रकृतौ 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' इत्याद्याग्नेयीष्वृक्षु (उ० आ० १।२०।१–३) गीयते; अस्मिंस्त्वग्निष्टुति ब्रह्मवर्चसकामेन वायव्यास्वृक्षु तत् साम गातव्यम्, तच्च प्रकृताविवैकविंशस्तोमयुक्तम्; पशुकामस्य तु 'रेवतीर्नः सधमाद'—इत्यादिषु रेवतीष्वृक्षु (उ० आ० ४।१४) 'वारवन्तीय' साम गायेदिति। तत्र रेवतीनामृचां वारवन्तीयनामकेन साम्ना यः सम्बन्धः सोऽयं पशुफलायाग्निष्टुति विधीयते। एतस्यैवेति प्रकृतपरामर्शकेनैतच्छब्देनान्यव्यावर्त्तकेनैवकारेण चाग्निष्टुतः समर्प्यमाणत्वात्; यथा पूर्वाधिकरणे इन्द्रियफलाय प्रकृतेऽग्निहोत्रे दधिगुणो विहितः तद्वत्, इति प्राप्ते, ब्रूमः—विषमो दृष्टान्तः, दध्नो होमजनकत्वं न शास्त्रेण बोधनीयं, तस्य लोकतोऽवगन्तुं शक्यत्वात्। फलसम्बन्ध एक एव शास्त्रबोध्यः इति न तत्र वाक्यभेदः, इह तु रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयसाम्नोऽग्निष्टुत्कर्मसाधनत्वं फलसाधनत्वं चेत्युभयस्य शास्त्रैकबोध्यत्वाद् दुर्वारो वाक्यभेदः। तेन पशुफलकं यथोक्तगुणविशिष्टकर्मान्तरमत्र विधीयते। एतच्छब्दः एवकारश्च विधीयमानकर्मान्तरविषयतया योजनीयौ" इति।

निधनविशेषाणां काम्यत्वकथनम्

उत्तरस्मिंस्त्वधिकरणे निधनविशेषाः काम्याः विचारिताः—

"वृष्टचन्नस्वर्गकामानां सौरभं स्तोत्रमीरितम् ।
निधनाद्यपि हीषुर्ग इति वृष्टचादिकामिनाम् ।।
फलान्तरं हि वृष्टचादि हीषादीनामुतोदिते ।
सौभरे फलसंभिन्ने निधनं विनियम्यते ।।
फलान्तरं चतुर्थ्योक्तं वृष्टिकामाय हीषिति ।
सौभरस्य फलं वृष्टिर्हीषित्युक्त्या विवर्द्धते ।।
नोक्तं वृष्टचन्नकामानामन्यत्वं प्रत्यभिज्ञया ।
नियमेऽपि चतुर्थ्येषा तादर्थ्यादुपपद्यते ।।

'यो वृष्टिकामो यो ऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे वै कामाः सौभरम्' इति [ताण्डच ८।८] समाम्नाय पुनः समाम्नातं-'हीषिति वृष्टिकामा निधनं कुर्यात्, उर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय' इति । 'सौभरं' नाम सामविशेषम् (ऊह १।१६) । निधनं नाम पञ्चभिः सप्तभिर्वा भागैरुपेतस्य साम्नोऽन्तिमो भागः । तस्मिन्निधने हीषादयो विशेषाः सौभर-साम साध्यास्तोत्रफलेभ्यो वृष्टचादिभ्योऽन्यानि वृष्टचादिफलानि जनयितुं विधीयन्ते, कुतः ? हीषादिविधिवाक्ये वृष्टिकामयेत्यादिना चतुर्थीश्रवणात्; सा च तादर्थ्यं त्रयाणां हीषादीनां वृष्टचादिकामपुरुषशेषत्वं गमयति. तच्छेष-त्वं च पुरुषाभिलषितफलसाधनत्वे सत्युपपद्यते । ततः सौभरस्य हीषीति निधनविशेषस्य च फलभूते द्वे वृष्टी भवतः, तदुभयमेलनान्महती वृष्टिः, इति प्राप्ते ब्रूमः—सौभरविधौ यो वृष्टचादिकामः स एव हीषादिविधौ प्रत्यभि-ज्ञायते । ततः सौभरस्य फलभूता ये वृष्टचादयः त एव हीषादि-शास्त्रेष्वनूद्यन्ते इति न फलान्तरम् । अथोच्येत नूतनफलान्तराभावात् हीषादीनां च नानाशाखाध्ययनादेव सौभरे प्राप्तत्वादनर्थकोऽयं विधिः इति तन्न, फलत्रयकामानां त्रयाणमनियमेनैव हीषादिषु मध्ये यस्य कस्यचि-न्निधनस्य प्राप्तौ विधेर्नियमार्थत्वात्, तादर्थ्यन्तु फलान्तराभावेऽपि सौभर-वाक्योक्तवृष्टचादिफलसाधने सौभरे हीषादीनां नियम्यमानत्वादुपपद्यते । तस्मादयं निधनविशेषनियमः न विधिः' इति ।

सामगाने उच्चैस्त्वनीचै-स्त्वधर्मविचारः तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे प्रथमद्वितीयाधिकरणयोः सामगाने उच्चत्वधर्मौ विचारितौ ।

तत्र प्रथमाधिकरणम्—

"कर्तव्यमुच्चैः सामर्ग्भ्यामुपांशु यजुषेत्यमी ।
मन्त्राणां वाथ वेदानां धर्मा मन्त्रगता यतः ।।
विध्युद्देशे मन्त्रवाचि शब्दाः प्रोक्ताः ऋगादयः ।
ऋग्वेदोऽग्नेः समुत्पन्न इत्युपक्रमवेदगीः ।।
असंजातविरोधोऽतस्तद्वशातुपसंहृतेः ।
नयने सति वाक्येन धर्माणां वेदगामिता ।।

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना' इति। तत्र विधिवाक्ये मन्त्रवाचिनामृगादिशब्दानां प्रयोगान्मन्त्रधर्माः उच्चैस्त्वादयः। तथा सति यजुर्वेदोत्पन्नाः अध्वर्युणा प्रयुज्यमानाः अप्यृचः उच्चैरेव पठितव्याः, इति चेत्? मैवम्, असंजातविरोधित्वेन प्रबलमुपक्रममनुसृत्य तद्वशेनोपसंहारस्य नेतव्यत्वात्। उपक्रमे हि वेदशब्दः श्रुतः—'त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः' (छा० उ० ४।१६) इति। अतः उपक्रमगतवेदानुसारेण विध्युद्देशगतानामप्यृगादिशब्दानां वेदपरत्वे सत्यृचोऽपि यजुर्वेदोत्पन्नाः उपांशु पठनीयाः। ननूपक्रमोऽर्थवादत्वाद् दुर्बलः, उपसंहारो विध्युद्देशत्वात् प्रबलः, इति चेत्? बाढम्। लब्धात्मनो हि विध्युद्देशस्य प्राबल्यम्, इह तु प्रथमतो बुद्ध्युत्पादकः उपक्रमः। तदानीमलब्धात्मकत्वान्न तस्य बाधकत्वं, पश्चात् तु वाक्यैकत्वाय तद्विरोधे नैवात्मानं लप्स्यते। तदेवमुपक्रमोपसंहारैकवाक्यताबलेन निर्णयात् वाक्यविनियोगोऽयम्" इति॥

आधाने वामदेव्यादीनामुपांशु गेयत्वनिर्णयः। द्वितीयाधिकरणम्—

"यजुर्वेदस्थमाधानं तदङ्गं साम तत्र किम्।
उच्चैरुपांशु वा गानमुच्चैः शीघ्रप्रतीतितः॥
उत्पत्तेर्विनियोगोऽत्र, प्रबलोऽनुसृतिर्यतः।
मुख्यस्याङ्गेन कर्तव्या, तस्माद् गान उपांशुता॥
आधानस्यात्र मुख्यत्वं, गानस्य गुणताऽथवा।
विनियोगस्य मुख्यत्वमुत्पत्तेर्गुणताऽस्त्विह॥

आधाने वामदेव्यादिसामान्यङ्गत्वेन विहितानि। तत्र यद्यप्येतानि यजुर्वेदगतस्याधानस्याङ्गानि तथापि सामवेदे तेषामुत्पन्नत्वादुत्पत्तेश्च शीघ्रबुद्धिहेतुत्वात् सामवेदधर्मेण गेयानीति चेत्? न, विनियोगस्य प्रबलत्वात्। स च यजुर्वेदे श्रुतः—'य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति' इति। गुणेन हि मुख्यस्यानुसरणं न्याय्यम्। को गुणः, किं मुख्यम् इति चेत्? अत्राङ्गित्वादाधानं मुख्यम्। सामगानमङ्गत्वेन गुणः तथा सति 'धर्मः शिरः' इत्यादयः आधानाङ्गभूताः मन्त्राः यथोपांशु पठ्यन्ते, तथा सामान्यप्याधानानुसारेणोपांशु गेयानि; अथवा विनियोगोऽनुष्ठापकविधित्वान्मुख्यः, उत्पत्तिविधिरतथाविधत्वाद् गुणः। तस्मादत्र विनियोगवेदानुसारेणोपांशु गेयानि" इति॥

एकविंशादिस्तोमविचारः। पञ्चमाध्यायस्य तृतीयपादे चतुर्थपञ्चमाधिकरणयोः स्तोमविचारः। तत्र चतुर्थाधिकरणम्—

"स्तोमवृद्धौ किमागन्तोर्मध्येऽन्ते वाऽस्तु मध्यतः।
द्वादशाहवदन्यत्र मध्यानुक्तेर्न मध्यतः॥

इदमाम्नायते—'एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, त्रिणवेनौज-

स्कामं, त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्' इति। तत्र प्रकृतौ बहिष्पवमानस्तोत्रे त्रयस्तृचा भवन्ति–'उपास्मै गायत' (उ०आ०१प्र०१ सू० १–३ ऋ०) इत्यादिः एकः। 'दविद्युतत्या रुचा' (उ० आ० १ प्र० २ सू० १–३ ऋ०) इत्यादिः द्वितीयः। 'पवमानस्य ते कवे' (उ० १ प्र० ३ सू० १–३ ऋ०) इत्यादि, तृतीयः। तेषु त्रिषु तृचेषूद्ध्वं गानेन त्रिवृत्स्तोमो भवति (ताण्डच २। १–३)। न त्वत्र पञ्चदशसप्तदशस्तोमादीनामिवावृत्तगानमस्ति। स च बहिष्पवमानो विकृतावतिरात्रे चोदकेन प्राप्तः। विवृत्स्तोमं बाधितुमेकविंशादिस्तोमाः विहिताः। बहिष्पवमाने आवृत्तगानाभावात्। त्रिषु तृचेष्ववस्थिताभिर्नवभिर्ऋग्भिरेकविंशस्तोमपूरणाभावात्। तत्पूरणाय चत्वारस्तृचा आगमयितव्याः, त्रिणवस्तोमपूरणाय षट् तृचाः; त्रयस्त्रिंशस्तोमपूरणायाष्टौ तृचाः, ऋगागमनं चोपरिष्टात् वक्ष्यते। तेषां चागन्तूनां मन्त्राणां प्राकृतबहिष्पवमानमध्ये निवेशः कार्यः द्वादशाहे तद्दर्शनात्, इति प्राप्ते ब्रूमः–द्वादशाहे हि वचनमेवाम्नायते–'स्तोत्रियानुरूपौ तृचौ भवतः, वृषण्वन्तस्तृचा भवन्ति, तत्र उत्तमः पर्यासः' (ताण्डच ११।६) इति। अयमर्थः–प्राकृतानां बहिष्पवमानगतानां त्रयाणां तृचानां स्तोत्रियोऽनुरूपः पर्यासश्चेति त्रीणि नामानि तत्र चोदकागतयोरनुरूपपर्यासयोस्तृचयोर्मध्ये वृषण्वच्छब्दयुक्तास्तृचाः कर्तव्या इति। न चैवमतिरात्रे मध्ये निवेशनाय वचनमस्ति। तस्मात् क्लृप्तक्रममबाधितुमागन्तूनामन्ते निवेशः" इति ॥

[1]आवापोद्वाप-विचारः

पञ्चमाधिकरणम्—

"आर्भवे साम्न आगन्तोरन्ते मध्येऽथवाऽग्रिमः।
पूर्ववत् त्रीणि यज्ञस्येत्युक्त्वा मध्ये निवेशनम् ॥

पूर्वोदाहृतेऽतिरात्रे माध्यन्दिनार्भवपवमानयोश्चोदकप्राप्तौ पञ्चदशसप्तदशस्तोमो बाधितुमेकविंशादिविवृद्धस्तोमो वचनादनुष्ठीयते। तत्र बहिष्पवमानवदृगागमनं न भवति, किन्तु सामागमेन स्तोमपूरणमिति दशमे वक्ष्यते। तस्य चागन्तोः साम्नः पूर्वोक्तानामृचामिवान्ते निवेशनात् पठितानां मध्ये तत्साम चरमे तृचे गातव्यम्, इति प्राप्ते;ब्रूमः–'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री, बृहती, अनुष्टुप् च। अत्र ह्येवाऽऽवपन्त्यत एवोद्वपन्ति (ताण्डच ७३) इति हि विशेष आम्नायते। अयमर्थः–स्तोमस्य विवृद्धये साम्न आवापः क्रियते, ह्रासाय चोद्वापः (१), तावुभावावापोद्वापौ गायत्र्यादिष्वेव नान्यत्रेति। 'उच्चा ते जातमन्धसः' (उ० आ० १। ८। १–३) इत्येष माध्यन्दिनपवमानस्याद्यस्तृचः। 'स्वादिष्ठया' (उ० आ० १। १४। १–३) इत्येषः आर्भवपवमानस्य। तावुभौ गायत्री-

१. आवापशब्दस्य आक्षेपोऽर्थः। उद्वापशब्दस्य चोत्क्षेपः।

च्छन्दस्कौ तयोरावापः, न तु त्रिष्टुब्जगतीच्छन्दस्कयोरन्ययोस्तृचयोः सामाऽऽवपनीयम्" इति ।।

तत्रैव पञ्चदशाधिकरणे स्तोमविचारः—

अन्यशब्दस्य सर्वविषयत्वकथनम्

"एकस्तोमेऽन्यशब्दः स्यात्, बहुस्तोमेऽपि वाऽग्रिमः ।
त्रिवृदन्येत्यर्थवादान्नान्यमात्रस्य सम्भवात् ।।

अत्र पूर्वोदाहृतोऽन्येनेत्ययमन्यशब्दः एकस्तोमके क्रतौ वर्तते, कुतः ? अर्थवादेन तदवगमात् । यो, वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते, स तं दीपयति, यः पञ्चदश स तं, यः सप्तदश स तं, य एकविंशः स तम्'–(ताण्ड्य १६।१) इत्यर्थवादः । अस्यायमर्थः–त्रिवृदादयश्चत्वारः स्तोमाः अग्निष्टोमे वर्त्तन्ते, तेषु त्रिवृत्स्तोमो विकृतिरूपं यं यज्ञमाप्नोति स त्रिवृत्स्तोमः तं यज्ञं दीपयति प्रकाशयति सर्वतो व्यप्नोतीति । स्तोमान्तरस्याप्रवेशाय त्रिवृत एव सर्वस्मिन् यज्ञस्वरूपे व्याप्तावयमेकस्तोमकः क्रतुर्भवति । एवं पञ्चदशादिस्तोमव्याप्तिर्योजनीया । तथा सत्यर्थवादादेकस्तोमकानामेव बुद्धिस्थत्वात् त एवान्यशब्देनोच्यन्ते । एकस्तोमकाश्च षड्रात्रादिष्वाम्नाताः—'त्रिवृदग्निष्टोमो भवति । पञ्चदश उक्थो भवति'इत्यादयः। तस्मात् तद्विषयोऽन्यशब्दः, इति प्राप्ते, ब्रूमः–'स तं दीपयति' इत्यत्र प्रकाशकत्वमात्रमुच्यते । तच्च व्याप्तिमन्तरेण सम्बन्धमात्रादप्युपपद्यते । तस्मात् अग्निष्टोमप्रतियोगितया बहुस्तोमैकस्तोमसाधारणत्वेन श्रूयमाणस्यान्यशब्दस्य सङ्कोचहेत्वभावात् सर्वविषयोऽयमन्यशब्दः" इति ।

सर्वपृष्ठातिदेशनिर्णयः

सप्तमाध्यायस्य तृतीयपादे तृतीयाधिकरणे सर्वपृष्ठातिदेशश्चिन्तितः—

"विश्वजित् सर्वपृष्ठः किमनुवादो रथन्तरम् ।
बृहता वा समुच्चेयं यद्वा षाडहिकानि षट् ।।
अतिदेश्यानि तत्राद्यो माहेन्द्रादिचतुष्टये ।
पृष्ठशब्दाच्चोदकेन सर्वेषामिह सम्भवात् ।।
समुच्चयो वा विषये सर्वत्वं बह्वपेक्षया ।
न तु द्वयोरतः षण्णां पृष्ठानामतिदेशनम् ।।

'विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवति' (ताण्ड्य ६।३) इति श्रूयते । सर्वपृष्ठशब्दोऽनुवादः, कुतः ? प्राप्तत्वात् । तथाहि-ज्योतिष्टोमे माध्यन्दिनपवमानानन्तरभावीनि माहेन्द्रादीनि चत्वारि स्तोत्राणि सन्ति–'अभि त्वा शूर नोनुमः' (उ० आ० १।११), 'कया नश्चित्र आभुवत्' (उ०आ१।१२)'तं वो दस्ममृतीषहम्'(उ०आ०१।१३),तरोभिर्वो विदद्वसुम् (उ०आ०१।१४) इत्येतेषु चतुर्षु सूक्तेषु तानि स्तोत्राणि सप्तदशस्तोमतामापाद्य

गीयन्ते । एकस्मिन् सूक्ते विद्यमानानां तिसृणामृचां ब्राह्मणोक्तविधानेन सप्तदशधाऽभ्यासः सप्तदश स्तोमः। तादृशे स्तोत्रेषु पृष्ठशब्दः श्रूयते–'सप्तदशानि पृष्ठानि'–इति । तानि पृष्ठानि विश्वजिति चोदकप्राप्तत्वात् सर्वपृष्ठशब्देनानूद्यन्ते इत्येकः पक्षः । रथन्तरपृष्ठपृष्ठयोर्ज्योतिष्टोमे विकल्पितयोरिहापि चोदकेन विकल्पप्राप्तौ सर्वशब्देन समुच्चयो विधीयते । तथा सत्यनुवादकृतं वैयर्थ्यं न भविष्यति–इति द्वितीयः पक्षः । सर्वत्वं बहुषु मुख्यं न तु द्वयोः । तस्मादनेन सर्वपृष्ठशब्देन षट्–सङ्ख्यकानि पृष्ठान्यतिदिश्यन्ते । षडहे प्रतिदिनमेकैकं पृष्ठं विहितम् , तानि च षट्–पृष्ठानि रथन्तर–बृहद्–वैरूपं–वैराज–शाक्वर–सामभिः निष्पाद्यानि । यद्यपि विश्वाजित एकाहत्वाद् ज्योतिष्टोमविकृतित्वमेव न तु षडहविकृतित्वम् , तथापि सर्वपृष्ठोक्तिबलात् तानि षट् पृष्ठान्यतिदिश्यन्ते" इति ॥

स्वरसामविकार-चिन्तनम्

तत्रैव दशमाधिकरणे स्वरसामविकारचिन्ता––

"न विकारा विकारा वा स्वरसामादयो न हि ।
वैष्णवन्यायतो मैवमनन्यगतिलिङ्गतः ।

गवामयने द्वयोर्मासषट्कयोर्मध्ये वर्त्तमानं विषुवन्नामकं प्रधानभूतमेकमहर्विद्यते । तच्च दिवा कीर्त्यम् । तस्मात् प्राचीनास्त्रयः स्वरसामनामकाः अहर्विशेषाः । तथोपरिष्टादपि त्रयः स्वरसामानः तदेतदभिप्रेत्य श्रूयते 'अभितो दिवाकीर्त्यं त्रयः स्वरसामानः' (ताण्ड्य ४।५) तेषु च ग्रहसातत्याय सप्तदशस्तोमादयो धर्माः विहिताः (ताण्ड्य ४।३) । अन्यत्र त्वेवं श्रूयते–'पृष्ठ्यः षडहो, द्वौ स्वरसामानौ'–इति । तावेतावहर्विशेषौपूर्वोक्तानां स्वरसाम्नां न विकारौ, कुतः । वैष्णवसमानत्वात् । यथा वैष्णवशब्दो देवतारूपगुणविधानेन मुख्यवृत्तित्वान्न लक्षणया धर्मानतिदिशति, तथा सामविशेषरूपगुणविधायकः स्वरसामशब्दः, इति प्राप्ते, ब्रूमः–अनन्यगतिलिङ्गवशात् स्वरसामानौ विकारौ भवतः । तथाहि–'षडहो, द्वौ स्वरसामानौ, इत्येवं योऽयमष्टाह उपन्यस्तः, तत्र षट्स्वहःसु क्रमेण 'त्रिवृत' 'पञ्चदशः' 'सप्तदशः' एकविंशः' 'त्रिणवः' 'त्रयस्त्रिंशः' इत्येवं स्तोमषट्कं चोदकेन प्राप्तम् । एवं स्थिते तृतीयषष्ठदिवसगतयोः सप्तदशत्रयस्त्रिंशयोर्व्यत्यासं विधाय सप्तमाष्टमयोरह्नोः सप्तदशस्तोमं सिद्धवत्कृत्य त्रिषु चरमेष्वहःसु सप्तदशस्तोमनैरन्तर्यमर्थवादेनानुवदति । 'यत् तृतीयं सप्तदशमहः तत् त्रयस्त्रिंशस्थानमभिपर्याहरन्ति' इति व्यत्यासविधिः । 'त्रयाणां सप्तदशानामनवानताया' इत्यर्थवादः । तत्र यद्यन्तयोरह्नोः सप्तदशस्तोमं स्वरसामशब्दोऽतिदिशेत् तदा नैरन्तर्यमुपपद्यते, न त्वन्यथा । तस्मान्न वैष्णवन्यायेन गुणविधि किन्तु धर्माणामतिदेशकः" इति ॥

श्लोकादिसाम्ना आज्यपृष्ठादिस्तोत्रस्य समुच्चयनिर्णयः

दशमाध्यायस्य चतुर्थपादे नवमाधिकरणम्—
"बाध्यं श्लोकादिनाऽऽज्यादि न वाऽऽद्यः स्तुतिलिङ्गतः ।
देशसाम्नोर्विधौ भेदे वैशिष्ट्यात्तु समुच्चयः ॥

महाव्रते श्रूयते—'श्लोकेन पुरस्तात् सदसः स्तुवते, अनुश्लोकेन पश्चात्' (ताण्ड्य ५।४) इत्यादि तत्र श्लोकानुश्लोकादिनामकैः सामभिः प्राकृतान्याज्यपृष्ठादिस्तोत्रगतानि रथन्तरवामदेव्यादिनामकानि सामानि बाध्यानि । कुतः ? 'स्तुवते'—इति प्रकृतिलिङ्गदर्शनात् प्रकृतौ 'आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते'—इति श्रुतम् । नैतत् सारम् । किमत्र स्तुतिमनूद्य देशसामगुणौ विधीयेते ? किं वा गुणद्वयविशिष्टा स्तुतिः ? नाद्यः, वाक्यभेदापत्तेः । द्वितीये तु कार्यभेदेन बाध्याभावात् समुच्चयः स्यात्" इति ।

कौत्सादिसाम्नः प्राकृतबाधकत्वनिर्णयः

तत्रैव दशमे कौत्सादिसाम्नः प्राकृतसामबाधकत्वम् ।
"समुच्चीयेत कौत्सादि यदि वा प्राकृतबाधकम् ।
स्तुत्या भावादादिमोऽन्त्यो लिङ्गप्रकरणद्वयात् ॥

विकृतिविशेषे श्रूयते—'कौत्सं भवति' 'काण्वं भवति' (ताण्ड्य १३।६) इति । तदेतत् कौत्सादिनामकं साम प्राकृतेन साम्ना समुच्चीयते । कुतः ? प्राकृतस्य स्तुतिलिङ्गस्याभावेन कार्यैक्याभावात् । मैवम्, प्रकरणात् क्रत्वङ्गत्वे सति ऋगक्षराभिव्यक्तिसामर्थ्यलक्षणप्राकृतलिङ्गेन कार्यैक्यावगमात् । तस्माद् बाधकम्" इति ॥

तत्रैव विशेषेव्यवस्था

एकादशे त्वेकायुक्तितः प्राकृतबाधकत्वम्—
"तत् सर्वबाधकं सर्वमेकद्व्याद्युक्तितोऽथवा ।
अविशेषादादिमोऽन्त्य एकाद्युक्तिविशेषतः ॥

तत् पूर्वोक्तं कौत्सादिसामविषयः तत्र, किं 'कौत्सं' साम प्राकृतसर्वसामनिवर्त्तकम्, काण्वमपि तथा । इत्येकैकस्य सर्वनिवर्त्तकत्वमुच्यते ? आहोस्विदेकवचनान्तनिर्दिष्टमेकस्य निवर्त्तकं, द्विवचनान्तनिर्दिष्टं द्वयोः बहुवचनान्तनिर्दिष्टानि बहूनाम् ? तत्र नियामकाभावादाद्यः पक्षः प्राप्नोति । एकादिवचनरूपाणां श्रुतीना नियामकत्वादन्त्यः पक्षोऽभ्युपेयः । तथाहि—'कौत्सं भवति', 'वसिष्ठस्य जनित्रे भवतः' (ताण्ड्य १४।११), 'क्रौञ्चानि भवन्ति' (ताण्ड्य १६।३)—इति निवर्त्तकेषु श्रूयमाणानि एकद्विबहुवचनानि निवर्त्त्यानां तत्सङ्ख्यावत्वं प्रत्यासत्या बोधयन्ति, किञ्च एवं सति अबाधितसामविषयश्चोदकोऽनुगृहीतो भवति । कृत्स्नबाधे तु सर्वश्चोदको निरुध्यते । तस्मान्न सर्वबाधकः" इति ॥

स्तोमवृद्ध्यवृद्ध्योः प्राकृतबाधकत्व-निर्णयः

द्वादशो स्तोमवृद्ध्यवृद्ध्योः प्राकृतबाधिका—
"स्तोमस्थयोर्वृद्ध्यवृद्ध्योः प्राकृतः किं निवर्त्तते ।
अवृद्धावेव वाऽऽद्यः स्यात् सामोत्पत्त्युपयोगतः ॥
अवृद्धावुपयोगाय प्राकृतस्य निवर्त्तकम् ।
वृद्धौ पूर्वोपयोगित्वात् वृद्धौ तु न निवर्त्तकम् ॥

सन्ति वृद्धस्तोमकाः अवृद्धस्तोमकाश्च विकृतिरूपाः ऋतवः तत्रो-भयत्रापि यानि सामान्युपदिष्टानि तैरतिदिष्टानां साम्नां निवृत्तिः स्यात्, अन्यथा सामोत्पत्तिवैयर्थ्यात् इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तः स्पष्टार्थः" इति ।

छन्दोविशेषत आवाप-कथनम्

त्रयोदशे स्तोत्रे छन्दोविशेषतः आवापः—
"क्वापि स्तोत्र ऋचि क्वापि स्यादावापस्तथोद्धृतिः ।
पवमानेषु गायत्र्यादिष्वेवोताविशेषतः ॥
आद्यो नौ परिसङ्ख्यानादत्र ह्येवेति तद्विधेः ।
विध्यन्तराशेषरूपमपूर्वं तद्विधीयते ॥

अवृद्धस्तोमकेषु प्राकृतस्यातिदिष्टस्य साम्न उद्वापः, प्रत्यक्षोप-दिष्टानामावापः । 'वृद्धस्तोमकेष्वावापः एव' इति स्थितं पूर्वाधिकरणे । तावेतावावापोद्वापौ यस्मिन् किस्मचित् स्तोत्रे यस्यां कस्याञ्चिदृचि स्याताम्, कुतः ? नियामकाभावात् इति पूर्वः पक्षः । नो खल्वेतद् युक्तम् । एवकारेण प्रकृतपवमानव्यतिरिक्तेष्वाज्यादिस्तोत्रेषु गायत्रीबृहत्यनुष्टुब्-व्यतिरिक्तास्वृक्षु आवापोद्वापयोः परिसङ्ख्यातत्वात् ।

एवकारश्चैवमाम्नायते—'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि यद् गायत्री बृहत्य-नुष्टुप् च । अत्र ह्येवावपन्ति अत एवोद्वपन्ति' इति । ननु मा भूतामन्य-त्राऽऽवापोद्वापौ विवक्षितदेशेषु कथं प्राप्नुतः ? इति चेत् । अनेन वाक्येन तद्विधानात्, इति प्राप्ते, ब्रूमः—नचायमर्थवादः, अनन्यशेषत्वात् । नाप्यनुवादः, अपूर्वार्थत्वात् । तस्मात् पवमानेष्वेव गायत्र्यादिषु आवापोद्वापौ" । .

कण्वरथन्तरं स्वयोनावेव इति निर्द्धारणम्

चतुर्विंशे तु कण्वरथन्तरं स्वयोनावेव—
"बृहद्रथन्तरैकीययोनौ कण्वरथन्तरम् ।
रथन्तरस्यैव योनौ किं स्वयोनावुताऽग्रिमः ॥
चोदकस्याविशेषेण द्वितीयो नामसाम्यतः" ।
अनङ्गत्वान्नातिदेशः स्वयोनौ पठितत्वतः ।

वैश्यस्तोमे पृष्ठस्तोत्रे सामविशेषो विहितः—'कण्वरथन्तरं पृष्ठं भवति' (ताण्ड्य १८।६) इति । प्रकृतौ पृष्ठस्तोत्रे बृहद्रथन्तरसामनी विकल्पिते, 'त्वामिद्धि हवामहे' (पू० आ० ३।१।५।२) इतीयमृक् बृहतो योनिः । 'अभि त्वा शूर' (पू० आ० ३।१।५।१) इति रथन्तरस्य । 'पुनानः सोम' (पू० आ०

५–१–३–१) इति कण्वरथन्तरस्य । तत्र बृहद्रथन्तरयोरन्यतरस्य साम्नो-र्योनौ कण्वरथन्तरं गेयम् । कुतः ? चोदकप्राप्तयोर्विशेषनियामकाभावात् । अथवा रथन्तरस्यैव योनौ गेयम् । कुतः ? रथन्तरेति नामसाम्यस्य धर्मातिदेशार्थत्वेन नियामकत्वात् । नैतद् युक्तम्, बृहद्रथन्तरसाम्नोरेव प्रकृतावाङ्गत्वेन विधानम्, न तु तद्योन्योः । अतो नास्ति तयोः अतिदेशतः प्राप्तिः । तस्मात् 'स्वयोनौ गेयमिति' परिशिष्यते । प्राप्तिश्च सामगानामुत्तराग्रन्थपाठादवगन्तव्या । एवं सति श्रुतहान्यश्रुतकल्पने न भविष्यतिः" ॥

पञ्चविंशे तु विशेष-व्यवस्था

पञ्चविंशे तु कण्वरथन्तरं स्वकीययोरेवोत्तरयोर्गेयम—
"सन्देहनिर्णयौ पूर्ववदेवोत्तरयोर्ऋचोः ।
योनित्यागः समश्चेन्न तृचशब्देन बाधनात् ॥

'एकं साम तृचे क्रियते' इति श्रुते, कण्वरथन्तरसाम्नः ऋचां त्रयमाश्रयः । तत्रैका स्वयोनिः इतरे स्वयोन्युत्तरे । एवं बृहद्रथन्तरसाम्नोर्द्रष्टव्यम् । तत्र बृहदुत्तरयोः रथन्तरोत्तरयोर्वा अतिदेशप्राप्त्यविशेषेण स्वेच्छया गेयमित्याद्यः पक्षः । नामसाम्याद्रथन्तरोत्तरयोरेव गेयमिति द्वितीयः पक्षः । प्राकृतावृचोः साक्षादङ्गत्वाभावेऽपि सामद्वारकमङ्गत्वमङ्गीकृत्य चोदकप्राप्त्या पक्षद्वयोपन्यासः । योनिवदुत्तरयोर्ग्रन्थपठितत्वात् स्वयोन्युत्तरयोर्गेयमिति तृतीयः पक्षो राद्धान्तः । बृहद्रथन्तरोत्तरयोः स्वयोन्युत्तरयोर्वा गीयताम् । सर्वथापि स्वयोन्नृक्त्याग ऋगन्तरपरिग्रहश्च समानः । तथा सति चोदकोऽत्र प्रापकः इति पूर्वपक्षिणोऽभ्यधिका शङ्का । तृचशब्दः समानच्छन्दस्कानामेकदेवत्यानामृचां त्रये प्रसिद्धः । अतस्तृचश्रुत्या प्रत्यक्षया चोदकप्राप्तस्य बाधः इति राद्धान्ताशयः" इति ॥

तिसृष्वित्यग्रिम-तृचव्यवस्था

पञ्चमपादस्य द्वितीयेऽधिकरणे तिसृष्वित्यग्रिमस्तृचो विवक्षित:—

"तृचाद्यासु तृचे वाऽऽद्ये तिसृष्वित्युच्यतेऽग्रिमः ।
त्रिच्छन्दस्त्वात् प्राकृतं स्यात् क्रमादत्र तृचोऽखिलः ॥

एकसङ्ख्यायास्त्रिसङ्ख्यायाश्च व्यतिषङ्गविधानात् 'एकत्रिक'नामकः कश्चित् क्रतुर्भवति । स चैवं श्रूयते–'अथैष एकत्रिकस्तस्यैकस्यां बहिष्पवमानं, तिसृषु होतुराज्यम् । एकस्यां मैत्रावरुणस्य, तिसृषु, ब्राह्मणाच्छंसिनः । एकस्यामच्छावाकस्य त्रिसृषु माध्यन्दिनः पवमानः' इति । सन्ति प्रकृतौ माध्यन्दिनपवमानस्य त्रयस्तृचाः–'उच्चा ते जातम्', इत्ययं (उ० आ० १ । ८ । १-३) प्रथमो गायत्रीच्छन्दस्कः । 'पुनानः सोम' इत्ययं (उ० आ० १ । ९ । १-३) द्वितीयो बृहतीच्छन्दस्कः ।

'प्र तु द्रव' इत्ययं (उ० आ० ११ । १० । १-३) तृतीयस्त्रिष्टुप्छन्दस्कः । एतदेवाभिप्रेत्य श्रुतम्—'त्रिच्छन्दा आपापो माध्यन्दिनः' (ताण्ड्य ३।७) इति। एवं सति एकत्रिकस्य माध्यन्दिनपवमाने तिसृष्विति यदुक्तं तत्र त्रयाणां तृचानामाद्यास्तिस्रः ऋचो ग्राह्याः ? किं वा प्रथमतृचस्थाः क्रमपठितास्तिस्रः ? इति संशयः । तत्र त्रिच्छन्दस्त्वश्रुत्या प्रबलया दुर्बलं पाठक्रमं बाधित्वा प्रथमपक्षो ग्राह्यः इति प्राप्ते, अभिधीयते—यदेतत् त्रिच्छन्दस्त्वं तदेतत् प्राकृतम् । तत्र छन्दस्त्रयोपेतस्य तृचत्रयस्योपदिष्टत्वात् । विकृतावपि तत्सर्वमतिदिष्टमिति चेत् ? बाढम् । अत एव पाठक्रमोऽप्यतिदिष्टः, तथा सति प्रक्रान्तगायत्रीछन्दस्कस्य तृचस्य समाप्तौ सत्यां पश्चाद् बृहतीच्छन्दस्के तृचे प्रथमायाः ऋचः प्रारम्भावसरः । स चारम्भस्मितसृषु इति विशेषविधानेन बाध्यते । तस्मादाद्यस्तृचो निखिलो ग्राह्यः" ।

धूर्गानस्यैकस्यामृचि कर्त्तव्यत्वमिति निर्णयः

तृतीये धूर्गानमेकस्यामृचि कर्त्तव्यम्—
"तृचे स्यादृचि वैकस्यां धूर्गानं प्रकृताविव ।
तृचे भवेदिहैकस्यां श्रुत्याऽऽवृत्तिविधानतः ।।

एकत्रित एव क्रतौ व्यतिषङ्गेणैकस्यां तिसृषु च स्तोत्रेषु सम्पाद्यमानेषु यद्धूर्गानं तत् किं तृचे स्यात् ? उतैकस्यामृचि ? इति संशयः । तत्र चोदकेन तृचे भवेदिति प्राप्ते, ब्रूमः—इहैकत्रिकक्रतौ एकस्यामृचि धूर्गानं भवेत् । कुतः ? 'आवृत्तं धूर्षु स्तुवते' इति आवत्तिविधानात् । ननु तृचे गानेऽपि साम्नस्त्रिरावृत्तिर्भवेत् ? न, आवृत्तेः स्तुतिविशेषणत्वात् । गुणसङ्कीर्त्तनपरः पदसमूहः स्तुतिः तच्च ऋगावृत्तिं विना तिसृष्वृक्षु न सिध्यति । तस्मादेकस्यां धूर्गानम्" ।

आगमात् स्तोमवर्धनप्रकारनिर्देशः

षष्ठे स्तोमवृद्धिरागमाद् भवेत्—
"स्तोमवृद्धिः किमभ्यासादागमाद्वाऽग्रिमो यतः ।
तत् कल्प्यमश्रुतं मैवं सङ्ख्याऽऽवापादिलिङ्गतः ।

विवृद्धस्तोमकः क्रतुरेवमाम्नायते,—एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, त्रिणवेनौजस्कामम्, त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्' इति । प्रकृतिगतेभ्यः त्रिवृत्पञ्चदशादिस्तोमेभ्यो विवृद्धाः एकविंशत्रिणवत्रयस्त्रिंशस्तोमाः । तेषु किं प्राकृतानां साम्नाम् अभ्यासाद् वृद्धिर्भवति ? किं वा सामान्तरागमात् ? इति संशयः । अश्रुतस्य सामागमस्य कल्पयितुमशक्यत्वाद् अभ्यासाद् वृद्धिः, इति प्राप्ते ब्रूमः—अभ्यासोऽपि न साक्षाच्छ्रूतः, किन्त्वेकविंशादिसङ्ख्यापूरणाय कल्प्यते, सङ्ख्या च द्रव्यगता, भिन्नद्रव्यैरेव पूर्य्यते न त्वेकद्रव्यावृत्या । न ह्यष्टकृत्व एकघटमानीय 'मद्गृहे सन्त्यष्टौ घटाः' इति व्यवहरन्ति। ततः स्तोमावयवद्रव्यगता सङ्ख्या तदवयवभूतानां साम्नां पदार्थानां भेदं गमयति । स च भेदः सामान्तरागमलिङ्गम् । 'अत्र ह्येवावपन्ति' इत्यावापो-

द्देशेन देशविशेषविधिरपरं लिङ्गम्। सामान्तरोत्पत्त्यर्थत्वमन्यल्लिङ्गम्; तस्मादागमेन वृद्धिः।

बहिष्पवमानवृद्धौ ऋच आगमः

सप्तमे बहिष्पवमानवृद्धावृच आगमः—

" बहिष्पवमानद्धौ साम्नर्चा वाऽभिपूरणम्।
साम्ना पूर्वोक्तितो मैवं सामैकत्वपराक्त्वतः॥

प्रकृतौ प्रातःसवने बहिष्पवमानस्य अतिवृद्धः स्तोमः, तस्य विकृतिषु वृद्धौ सत्यां पूर्वोक्तरीत्या सामान्तरागमे प्राप्ते, ब्रूमः—'एकं हि तत्र साम' इति बहिष्पवमानं प्रकृत्य सामैकत्वमाम्नायते। अतो न सामान्तरागमः सम्भवति। एवं तदभ्यासेन सङ्ख्यापूरणमस्तु इति न वाच्यम्, 'पराग् बहिष्पवमानेन स्तुवन्ति' इति पराक्शब्देनाभ्यासप्रतिषेधात्; तस्मादृगागमः"।

एकस्य साम्नस्तृचे गेयत्वनिर्णयः

षष्ठपादस्याद्ये एकं साम तृचे गेयम्—

"सामैकस्यां तृचे वा स्यादाऽऽद्यः स्वाध्यायवद् भवेत्।
वचनाल्लिङ्गसंयुक्तात् स्तोत्रे साम तृचे भवेत्॥

पवमानाज्यपृष्ठादिस्तोत्रेषु यद् विहितं रथन्तरबृहद्वैरूपादिसाम अध्येतारः एकस्यामृच्यधीयते, तत् किं स्तोत्रप्रयोगकालेऽप्येकस्यामृचि गेयम्? किं वा तृचे गेयम्? इति संशयः। अध्ययनस्यानुष्ठानार्थत्वाद् यथाध्ययनमेकस्यामृचि साम्नः कृतं तथैकस्यामेव साम गेयमिति पूर्वपक्षः। 'अष्टमाक्षरेण प्रथमाया ऋचः प्रस्तौति, द्व्यक्षरेणोत्तरयोः' इति तिसृष्वृक्षु प्रस्तोत्रा गातव्यभागो निरूप्यते, तदिदं तृचस्य लिङ्गम्। 'ऋक् सामोवाच मिथुनीसम्भवाव' इत्यादौ ऋग्देवतासामदेवतयोः सम्वादरूपेऽर्थवादे सामदेवतैकामृचं द्वे ऋचौ च प्रत्याख्याय तिस्रः ऋचोऽङ्गीचकार। तदिदं अपरं लिङ्गम्। ताभ्यां लिङ्गाभ्यामुपबृंहिताद् एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्' इति वचनात् तृचे गातव्यमिति'।

स्वदृक्शब्दस्य मीलनावधित्वकथनम्

द्वितीये स्वदृक्शब्दो मीलनावधिः—

"स्वदृक्शब्दे वीक्षणे च किं स्यादङ्गाङ्गिताऽथवा।
मीलनावधिताऽऽद्योऽस्तु भिन्नवाक्येन तद्विधेः॥
प्रतिशब्देनावधिर्हि द्योत्यो वाक्यं न भिद्यते।
सत्येवं मीलनस्यापि विधिर्नोत्तरयोर्भवेत्॥

अस्ति रथन्तरसाम्नो योनौ 'अभि त्वा शूर' इत्यस्यामृचि स्वदृक् शब्दः 'ईशानमस्य जगतः स्वदृशम्' (उ० आ० १।११।१) इत्याम्नातः। अस्ति चोद्गातुः कर्तृता तृचे 'रथन्तरे प्रस्तूयमाने सम्मीलयेत्, स्वदृशं प्रतिवीक्षेत' (ताण्ड्यब्रा०७।७)इति श्रुतेः। तत्र संशयः। किं स्वदृक्शब्दोच्चारणवीक्षणयो-

रङ्गाङ्गिभावोऽत्र विधीयते ? किं वा विधीयमानसम्मीलनावधित्वेन स्वदृक्-शब्दोच्चारणं निर्दिश्यते, इति। तत्र संमीलनवाक्यात् वीक्षणवाक्यं भिन्नम्। ततो न मीलनावधित्वेनान्वयः सम्भवतीति। किञ्च वीक्षेतेति लिङ्प्रत्ययोऽत्र विधायकः श्रूयते। ततः स्वदृक्शब्दोच्चारणं वीक्षणाङ्गम्, वीक्षणं वा तदङ्गम् इत्यङ्गाङ्गिभावोऽभ्युपेयः। तथा सति स्वदृक्शब्दरहितयोरुत्तरयोर्ऋचोर्गीयमाने रथन्तरेऽपि विहितसम्मीलनानुवृत्तिः फलिष्यतीति पूर्वपक्षः। "स्वदृशं प्रति"इत्यनेन प्रतिशब्देन स्वदृक्शब्दोच्चारणस्य मीलनकालावधित्वं द्योत्यते। न चात्र भिन्नवाक्यत्वम्, एकवाक्यत्वसम्भवात्। तथाहि विरोधपरिहाराय स्वत एव प्राप्तत्वात् वीक्षणं न विधेयम्। तथा सति आ-स्वदृक्शब्दोचारणात् सम्मीलयेदित्येकं वाक्यं सम्पद्यते। एवं सत्युत्तरयोर्ऋचोर्मीलनविध्यभावः फलिष्यतीति राद्धान्तः"

बृहद्रथन्तरयोर्दिन-भेदेन प्रयोग-निर्णयः तृतीये बृहद्रथन्तरयोर्दिनभेदेन प्रयोगः—

'गवामयनिके पृष्ठ्यषडहे प्रत्यहं द्वयम्।
बृहद्रथन्तरं चोत भवेत् किञ्चित् क्वचिद्दिने॥
द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहेराद्योऽन्त्येऽपि समो ह्यसौ।
अन्योन्यनिरपेक्षस्य चोदकादन्तिमो भवेत्॥

द्वादशाहे पृष्ठ्यः षडहः उत्पन्नः। तत्र षण्णामप्यह्नां क्रमेण रथन्तरबृहद्वैरूपवैराजशाक्वररैवतानि सामानि विहितानि। गवामयने तु विकृतिरूपीयः पृष्ठ्यः षडहः। तत्र श्रूयते—'पृष्ठ्यः षडहो बृहद्रथन्तरसाम' इति चोदकप्राप्तयोः बृहद्रथन्तरयोःपुनर्विधानात् वैरूपादिनिवृत्तिः। ततः शिष्यमाणं बृहद्रथन्तरं सामद्वयं किं प्रत्यहं कर्तव्यम् ? किं वा केषुचिदहःसु बृहत्, केषुचिद्रथन्तरम् ? इति संशयः। बृहच्च रथन्तरञ्च बहद्रथन्तरे ते च सामनी यस्य इति द्वन्द्वगर्भिते बहुव्रीहावितरेतरयोगद्वन्द्वेन साम्नो साहित्यं प्रतीयते। ततः प्रत्यहं सामद्वयम् इति पूर्वपक्षः। ते सामनी यस्याह्नः इत्यह्नो यद्यन्यपदार्थत्वं तदा भवदुक्तमेव स्यात्, इह तु षडहोऽन्यपदार्थः। तथा सति षडहे द्वयोः साम्नोः साहित्यं सिद्धान्तेऽपि समानम्। प्रकृतौ साम्नोरन्योन्यनिरपेक्षत्वादिहापि निरपेक्षत्वमेव सामचोदकेनातिदिश्यते ; तस्मात् केषुचिदहःसु किञ्चित् साम इति राद्धान्तः'।

सर्वपृष्ठस्य यथोक्तदेशे विहितत्वनिर्णयः पञ्चमे सर्वपृष्ठे यथोक्तदेशे पृक्तानि—

'किं सर्वपृष्ठे सर्वाणि पृष्ठदेशे यथोक्ति वा।
'पृष्ठशब्दात् पृष्ठदेशे वचनात् तु व्यवस्थितिः।

इदमाम्नायते—'विश्वजित् सर्वपृष्ठः' इति। षडहे षट्स्वहःसु क्रमेण रथन्तरं बृहद् वैरूपं इत्यादिभिः षड्भिः सामभिः पृष्ठस्तोत्रं, निष्पादितम्। तानि सर्वाणि पृष्ठसामानि यस्मिन् विश्वजिति सोऽयं सर्व-

पृष्ठः तत्र माध्यन्दिनपवमानमैत्रावरुणसाम्नोरन्तरालभूते पृष्ठस्तोत्रदेशे किं सर्वाणि पृष्ठसामानि कार्याणि ? किं वा यथावचनं देशव्यवस्था ? इति संशयः । पृष्ठकार्यगमकेन पृष्ठशब्देन पृष्ठदेशे प्राप्ते, वचनेन देश-विशेषो व्यवस्थाप्यते । वचनं चैवमाम्नायते--'पवमाने रथन्तरं करोत्या-र्भवे बृहन्मध्य इतराणि वैरूपं होतुः पृष्ठं वैराजं ब्रह्मसाम शाक्वरं मैत्रा-वरुणस्य रैवतमच्छावाकस्य'--इति । वचनं हि न्यायाद् बलीयः, तस्माद्-देशविशेषो व्यवस्थितः ।

वैरूपवैराजयोरुक्थ्यषोडशिपृष्ठगतत्वनिर्णयः

षष्ठे वैरूपवैराजे उक्थ्यषोडशिनोः पृष्ठगते--
''कात्स्न्यर्याद् वैरूपवैराजे उक्थ्यषोडशिनोरुत ।
पृष्ठे स्यात् क्रतुसंयोगादाऽऽद्याऽन्तः पृष्ठलिङ्गतः ॥

इदमाम्नायते-'उक्थो वैरूपसामैकविंशः षोडशो वैराजसामेति' । तत्र कृत्स्ने उक्थ्ये 'वैरूपं' साम, कृत्स्ने षोडशिनि, वैराजम्' 'वैरूपं' साम यस्मिन्नुक्थ्ये क्रतौ-'वैराजं' साम यस्मिन् षोडशिनि क्रतो, इत्येवं क्रतु-सम्बन्धः प्रतीतेः । मैवम् । प्रकृतौ रथन्तरसामा बृहत्सामा इत्यवंविधस्य निर्देशस्य पृष्ठस्तोत्रविषयत्वदर्शनादत्रापि तन्निदेशेन पृष्ठलिङ्गेन पृष्ठकार्य्ये वैरूपं वैराजं च भवितुमर्हति । क्रतुसम्बन्धस्तयोः पृष्ठद्वारेणोपपद्यते'' ।

त्रिवृदग्निष्टुति त्रिवृत्-शब्दस्य स्तोमत्व-निर्धारणम्

सप्तमे त्रिवृदग्निष्टुत्स्तोम एव--
"त्रिवृदाग्निष्टुदित्येतत् सर्वत्र स्तोम एव वा ।
आद्यस्त्रैगुण्यवाचित्वादन्त्यस्तोमेऽस्य रूढितः ॥

एवं श्रूयते--'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमः' (ताण्ड्य ३ प०) इति । किं त्रिवृत्त्वमाग्निष्टति क्रतौ सर्वेषु साधनेषु सम्बध्यते ? किं वा स्तोममात्र-सम्बन्धि तत् ? त्रिवृद्रज्जुरित्यादो त्रिवृच्छब्दस्य त्रैगुण्यत्वाचित्वदर्शनाद-त्रापि क्रतुसाधनेषु या या सङ्ख्या श्रूयते सा सर्वा त्रिवृत्त्वेन विक्रियते इति प्राप्ते, ब्रूमः--यद्यपि त्रिवृच्छब्दोऽवयवप्रसिद्धया लोके त्रैगुण्यं ब्रूते, तथापि वेदे रूढ्या स्तोमवाचकः, त्रिवृद् बहिष्पवमानः इत्युक्त्वा स्तोत्रि-याणां नवानामृचामनुक्रमणेन स्तोमविषयमेव त्रिवृत्त्वम्" ।

संसवादेः पृष्ठत्वनिर्णयः

अष्टमे संसवादौ पृष्ठत्वम्--
"संसवादौ द्वयोरेकं पृष्ठं यद्वा समुच्चितम् ।
एकं प्रकृतिवद् विश्वजिद्वदन्यत्र चेतरत् ॥
वचनाद् विश्वजित्येते साम्नी द्वे स्तोत्रयोर्द्वयोः ।
नेहास्ति तत् पृष्ठ एव साहित्यं स्यात् पुनर्विधेः ॥

इदमाम्नायते--'संसव उभे कुर्याद्, गोसव उभे कुर्याद्, अभिजित्यै-काहः बभे बृहद्रथन्तरे कुर्यात्' इति । किमत्र बृहद्रथन्तरयोरेकं पृष्टस्तुतौ

इतरदन्यस्तुतौ स्यात् ? किं वा समुच्चितमुभयं पृष्ठस्तुतौ ? इति संशयः। प्रकृतौ द्वयोर्विकल्पितत्वादेकस्मिन् प्रयोगे एकस्य पृष्ठत्वादन्यत्रापि तथात्वं युक्तम्, तथा सत्यवशिष्टं साम सर्वपृष्ठविश्वजिन्न्यायेन स्तोत्रान्तरे प्रयोक्तव्यम् इति पूर्वपक्षः। तादृग्वचनाभावेनात्र विश्वजिद्वैषम्यात् प्रकृतिवद् विकल्पे सति पुनर्विधानवैयर्थ्यात् समुच्चयः इति राद्धान्तः"।

बृहद्यवखादिराणां नियतत्वकथनम्

सप्तमपादस्य षोडशाधिकरणे बृहद्यवखादिरा नियताः—

"बृहद्यवः खादिरश्च विकल्प्या नियता उत।
विकल्प्याश्चोदकप्राप्तेर्नियताः स्युः पुनर्विधेः॥

क्वचिद् विकृतौ श्रूयते—'बृहत् पृष्ठं भवति' इति। त्रैधातवीये श्रूयते—'यवमयो मध्यमः' इति। वाजपेये श्रूयते—'खादिरो यूपो भवति' इति। तत्र बृहद्रथन्तरयोः व्रीहियवयोः खादिरवैल्वादीनाञ्च प्रकृतौ विकल्पितत्वादत्रापि चोदकेन विकल्पिता इति चेत् ? न। पुनर्विधानवैयर्थ्यात्। परिसंख्या तु दुष्टत्वान्न शङ्क्या। तस्मान्नियताः कोटचन्तरं त्वर्थान्निवर्तते"।

ब्रह्मसाम्नो विकल्पितत्वकथनम्

अष्टमपादस्य षष्ठाधिकरणे विप्रगानं विकल्पितम्—

'उन्नेयो ब्रह्मगानस्य निषेधो विहितस्तुतिः।
विकल्पितो वा शून्योऽपि वपोत्खेद इव स्तुतिः॥
विध्यनन्वयतोऽस्तोत्रं ब्रह्मोद्गाता तथा सति।
विषयैक्याद् विकल्पोऽत्र षोडशिग्रहवन्मतः॥

आधाने वामदेव्यादिसाम्नां गानानि विहितानि। आधान एवेदमपरमाम्नायते—'उपवीता वा एतस्याग्नयो भवन्ति, यस्याग्न्याधेये ब्रह्मा सामानि गायति' इति। उपशब्दः सामीप्यं ब्रूते। वीताः विगताः कालविलम्बमन्तरेण परैस्त्यक्ता इत्यर्थः। अनया निन्दया ब्रह्मणः सामगाननिषेध उन्नीयते, स निषेध उद्गातुर्विहितं वामदेव्यादिसामगानं स्तौति। ननु ब्रह्मणः सामगानमप्रसक्तम्। ततस्तन्निषेधोऽत्यन्तमसम्भावितत्वाच्छशविषाणवच्छून्यः, नहि वन्ध्यापुत्रो वा तद्वधो वा सम्भावयितुं शक्यते। तथा सति तादृशेन कथं स्तुतिः ? इति चेत् वपोत्खेदवदिति ब्रूमः—'स आत्मनो वपामुदखिदत्'—इत्यनेनात्यन्तासम्भावितार्थेन यथा प्राजापत्यस्य तूपरस्य[1] अजस्य विधिः स्तूयते, तद्वत् इति प्राप्ते, ब्रूमः—नेदं वामदेव्यादिसामविधीनां स्तोत्रं भवितुमर्हति, विधीनामनेकत्वेन स्वस्वसन्निधिपठितैरर्थवादैर्निराकाङ्क्षत्वेन च तदन्वयायोगात्। का तर्ह्यस्य वाक्यस्य

1. तूपरस्य शृङ्गविहीनः पशुरर्थः। स च अजातशृङ्गः पतितशृङ्गो वा भवति। तथाहि ताण्ड्यब्राह्मणस्य चतुर्थप्रथमे—'ताः सर्वमन्याद्यमाप्नुवंस्ता एतास्तूपराः' इत्यस्य ताः 'पतितशृङ्गाः गावः सर्वर्तुभवमन्नाद्यम् अदनीयम् अन्नं प्राप्नुवन्। ता गावस्तूपराः शृङ्गहीना दृश्यन्ते' इति भाष्ये तूपरशब्दस्तथैव व्याख्यातो भाष्यकारेण।

गतिः ? इति चेत्, उच्यते–ब्रह्मशब्दोऽत्र विप्रत्वजातिद्वारेणोद्गातारं ब्रूते, यस्य च गानं तस्मिन्निषेधे सति विधिनिषेधाभ्यामेकविषयाभ्यामुद्गातुर्गानं विकल्प्यते"।

पर्यग्निकरणे ब्रह्मसाम्न उत्कर्षविधानम्

एकादशाध्यायस्य द्वितीयपादे द्वादशेऽधिकरणे ब्रह्मसामन्युत्कर्षः—

"पर्यग्निकरणे त्याग आलम्भो ब्रह्मसामनि।
कर्मशेषनिषेधश्च कर्मान्तरविधिर्भवेत् ॥
किं वोत्कर्षोऽवशिष्टस्य ह्यारण्योक्तिवदाऽऽदिमः।
अदृष्टवाक्यभेदाप्तेर्द्रव्यभेदेन चान्तिमः ॥

वाजपेये 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् सञ्चिनुते' इति प्रकृत्य श्रूयते— 'तान् पर्यग्निकृतानुत्सृजन्ति' इति, 'ब्रह्मसाम्न्यालभते' इति। तेषु सप्तदशसु पशुषु पर्यग्निकरणेऽनुष्ठिते सत्युत्तरकालभावी कर्मशेषं उत्सर्गशब्देन निषिध्यते। अश्वमेधे 'पर्य्यग्निकृतान् आरण्यानुत्सृजन्ति' इत्यत्र कर्मशेषनिषेधस्य प्रतिपन्नत्वादत्रापि तथात्वेन सप्तदश पशवः पर्यग्निकरणान्ताः समाप्याः। आलभतिना च ब्रह्मसामकाले कर्मान्तरं विधीयते इति प्राप्ते, ब्रूमः-कर्मान्तरविधौ सप्तदशपशुजन्या दृष्टाद् भिन्नं किञ्चिददृष्टं कल्प्येत, वाक्यभेदश्च प्राप्नुयात्। किञ्च 'ब्रह्मसाम्न्यालभते' इत्यत्र द्रव्यदेवतयोरश्रवणात् न कर्मान्तरविधिः सम्भवति। तस्मात् पर्यग्निकरणानन्तरमेव कार्यस्य सप्तदशपशूनामालम्भादिशेषस्य ब्रह्मसामकाले उत्कर्षो विधीयते, तथा सति अर्थप्राप्तः, पर्यग्निकरणानन्तरभाविकर्मव्यापारोपरम उत्सर्गशब्देनानूद्यते।

मन्त्रलक्षणमारभ्य ब्रह्मसामोत्कर्षपर्यन्तैः[1] पूर्वमीमांसागतैः द्विषष्टिसंख्याकैर्विचारैः सामवेदस्य क्रतुषूपयोगो विस्पष्टीकृतः। अतः स प्रयोजनवत्त्वादृग्वेदादिवदेवावश्यं व्याख्यातव्यः"।

साम्नामृगाश्रयत्वात् तेषां व्याख्यानयोग्यत्वप्रतिपादनम्

नन्वस्मिन् सामवेदे ब्राह्मणभागस्य व्याख्यातुं योग्यत्वेऽपि मन्त्रभागस्य न व्याख्यानयोग्यतास्ति, तत्रत्यानां मन्त्राणां गीतिमात्रात्मकत्वात्। न खलु पदवाक्यव्यतिरिक्ताया स्वरस्तोभादिसाध्यायां गीतौ क्रियाकारकयोजनाभिव्यङ्ग्यः कश्चिदर्थोऽस्ति, यस्याभिव्यक्तये भवता गीतिर्व्याख्यायेत। यत्तु स्वरादिलक्षणविशेषकथनेन गीतिव्याख्यानं तत्पूर्वाचार्यैरेव तत्तल्लक्षणमन्त्रग्रहणेषु सम्पादितम्–इति न तत्र त्वया यतितव्यम्। अतः कथं भवतः मन्त्रभागव्याख्यानम् ?

---

१. चतुःषष्टितमपृष्ठादारभ्य नवनवतितमपृष्ठपर्यन्तमत्रत्यो ग्रन्थांशो माधवाचार्यप्रणीतजैमिनीयन्यायमालाविस्तरस्य तत्तदध्यायादुद्धृतोऽत्र विद्यते इति स्फुटमवधेयम्।

अत्रोच्यते—न तावद् गीतिर्निराश्रया, तस्याः ऋच्याश्रितत्वात्। अत एव छन्दोगा उपनिषद्येवामनन्ति—'तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते'—इति (छा० उप० १।६) गीत्याश्रयभूता सेयमृगपि मन्त्र एव 'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' इति मन्त्रविशेषत्वेन सूत्रितत्वात् (जै० सू० २।१।३२); ऋगात्मकस्य तु मन्त्रस्य क्रियाकारकान्वयाभिव्यङ्ग्योऽर्थो विद्यते। स च क्रत्वनुष्ठानकालेऽनुस्मर्त्तव्यः इति ऋग्व्याख्यानमवश्यं कर्त्तव्यम्।

मन्त्रैरर्थानुस्मरणत्व-निर्णयः मन्त्रैरर्थानुस्मरणं तु प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे चतुर्थाधिकरणे निर्णीतम्—

"मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागेषूताः पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥
ब्राह्मणेनापि तद्गानान् मन्त्राः पुण्यैकहेतवः।
न तदभानस्य दृष्टत्वात् दृष्टं वरमदृष्टतः॥

उरु प्रथस्वेत्ययं कश्चिन्मन्त्रः। तस्यायमर्थः—भो पुरोडाश, त्वं उरु विपुलता यथा भवति तथा प्रसर इति। एवमादयो मन्त्राः यागप्रयोगेषूच्चार्य्यमाणाः अदृष्टमेव जनयन्ति। न त्वर्थप्रकाशनाय तदुच्चारणम्, पुरोडाशप्रथनलक्षणस्यार्थस्य ब्राह्मणवाक्येनापि प्राप्तत्वात्। 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति हि ब्राह्मणवाक्यम्। नैतद् युक्तम्, अर्थप्रत्यायनस्य दृष्टप्रयोजनसम्भवे सति केवलादृष्टस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्। तस्मात् दृश्यमानार्थानुस्मरणमेव यागप्रयोगे मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनम्। ब्राह्मणवाक्येनार्थानुस्मरणसम्भवे मन्त्रेणैवानुस्मरणीयमिति यो नियमः, तस्य दृष्टासम्भवात् अदृष्टं प्रयोजनमस्तु"।

मन्त्रैरर्थानुस्मरणत्व-विषये गुरुमत-विवेचनम् अस्मिन्नेवाधिकरणे मतान्तरेण[1] पूर्वोत्तरपक्षावाह—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्यद्वा कलहो विनियोजने।
न मन्त्रलिङ्गसिद्धार्थमनुवक्तीतरद् यतः॥

अस्य मन्त्रस्य लिङ्गेन विनियोगे ब्राह्मणवाक्यमविवक्षितार्थं स्यात्, वाक्येन विनियोगे मन्त्रलिङ्गं न विवक्ष्येत, इत्युभयोर्विरोधादप्रामाण्यं चोदनायाः इति पूर्वपक्षः। नायं विरोधः प्रबलेन लिङ्गेन विनियोगसिद्धौ वाक्यस्यानुवादकत्वादिति राद्धान्तः" (जै० न्या० वि० १।२।४)।

इति सामवेदस्य भाष्योपक्रमणिका समाप्ता।

---

१. प्रभाकरस्य मतेनेति भावः।

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतायाः

काण्वसंहितायाः

सायणाचार्यकृता

भाष्यभूमिका

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतायाः

काण्वसंहितायाः

भाष्यभूमिका

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशत् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायाऽतिसंग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं व्याकरोत् खलु ॥ ४ ॥
ऋग्यजुःसामवेदा ये व्याख्यातास्तेषु तद्यजुः ।
कृष्णं शुक्लमिति द्वेधा तत् कृष्णं तैत्तिरीयकम् ॥ ५ ॥
वैशम्पायनशिष्येण याज्ञवल्क्येन यद् यजुः ।
अधीत्य वान्तमाचार्यकोपभीतेन योगिना ॥ ६ ॥
गुरुः शिष्यमुवाचेत्थं क्रुद्धः केनाऽपि हेतुना ।
प्रत्यर्पय मदीयां त्वं विद्यामित्यर्थयत् स च ॥ ७ ॥
योगसामर्थ्यतो विद्यां मूर्तां कृत्वाऽवमत् तदा ।
गृह्णीत तद्यजुर्वान्तमित्यन्यान् गुरुरब्रवीत् ॥ ८ ॥
अन्ये तित्तिरयो भूत्वा किञ्चित् तानप्यभक्षयन् ।
प्रवर्तितः खण्डशस्तैर्न सम्यग् बध्यते नृभिः ॥ ९ ॥
आध्वर्यवं क्वचिद् हौत्रं क्वचिदित्यव्यवस्थया ।
बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद् यजुः कृष्णमितीर्यते ॥ १० ॥
याज्ञवल्क्यस्ततः सूर्यमाराध्याऽस्मादधीतवान् ।
व्यवस्थितप्रकरणं यजुः शुक्लं तदीर्यते ॥ ११ ॥
पौराणिकीं कथामेतां वेदव्याख्यान आदरात् ।
आदिशन्मह्यमाचार्याः श्रुतावपि मया श्रुतम् ॥ १२ ॥
काण्ववेदगतं विद्या वंशब्राह्मण ईर्यते ।
यजूंषि शुक्लान्यादित्यान्मुनिः प्रापेत्यपि स्फुटम् ॥ १३ ॥

वंशब्राह्मणोपक्रमः अथ वंशः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्राद् इत्यारभ्य, परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भुब्रह्मणे नम इत्येतदन्तं काण्ववेदस्यान्तिमं वंशब्राह्मणम्। पौतिमाषीपुत्रः कश्चिद्वेदसंप्रदायप्रवर्तको मुनिर्मनुष्याणां गुरुः। स च कात्यायनीपुत्राद् वेदमधीतवान्। परमेष्ठीशब्देन सत्यलोकप्रवर्तो चतुर्मुखोऽभिधीयते। ब्रह्मशब्देनात्र, 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म',

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता० उप० ४।१०)

इत्यादिवेदवाक्यप्रसिद्धः परमेश्वरो विवक्षितः। तस्य च इतरेषामिवोत्पत्त्यर्थं वेदाऽध्ययनादिव्यवहाराय वा पारतन्त्र्यं, तत् स्वयम्भूशब्देन निवार्यते। तथा च श्वेताश्वतरा आमनन्ति—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः॥
(श्वेता० उप० ६।८, ९)।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।
(श्वेता० उप० ६।१८)।

नमःशब्देन चाऽस्य ब्राह्मणस्य गुरुपरम्पराविषयनमस्कारं प्रत्यङ्गमन्त्रत्वं द्योत्यते। सा च गुरुनमस्काररूपा गुरुसेवा वेदाध्ययनतदर्थविचारतदनुष्ठानानां साफल्याय संपद्यते। तथा च स्मृतिः—

गुरुमुख्याः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैः॥

शुक्लयजुर्वेदस्य शाखाविषयको विचारः ईदृशे चाऽस्मिन् वंशब्राह्मणे वाक्यमेवमाम्नायते— आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्त इति। आदित्येनाध्यापितत्वादादित्यान्युच्यन्ते। वाज इत्यन्नस्य नामधेयम्। 'अन्नं वै वाजः' इति श्रुतेः। वाजस्य सनिः दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिः। तस्य पुत्रो वाजसनेयस्तस्य याज्ञवल्क्य इति नामधेयम्। तेन याज्ञवल्क्येनैतानि शुक्लयजूंषि महर्षिभ्यः पञ्चदशभ्य आख्यायन्ते समन्तादुपदिश्यन्ते। एवं सति याज्ञवल्क्येन प्रवर्तिताः शुक्लयजुर्विषयाः शाखाः पञ्चदश संपद्यन्ते। तच्छाखाऽध्यायिनश्चरणव्यूहादिग्रन्थे काण्वादिभिः पञ्चदशभिर्नामभिरित्थं व्यवह्रियन्ते—काण्वाः॥ १॥ माध्यन्दिनाः॥ २॥ शापेयाः॥ ३॥ तापायनीयाः॥ ४॥ कापालाः॥५॥ पौण्ड्रवत्साः॥ ६॥ आवटिकाः॥ ७॥ परमावटिकाः॥ ८॥ पराशर्याः॥९॥ वैधेयाः॥१०॥ वैनेयाः॥११॥ औधेयाः॥१२॥ गालवाः॥१३॥ बैजवा॥१४॥ कात्यायनीयाश्च॥१५॥ इति पञ्चदश नामानि (च०व्यू०२ कं०)॥

काण्वसंहितेत्यभिधानस्वार्थनिरूपणम्

तत्र काण्वाभिधेन महर्षिणा लब्धो यजुर्वेदविशेषः काण्वः। तल्लाभश्च स्मर्यते—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

यद्यप्ययं वेदः स्वयम्भूपरमेष्ठ्यादिपरम्परया प्राप्त आदित्यशिष्येण याज्ञवल्क्येन बहुभ्यः शिष्येभ्य उपदिष्टस्तथापि महता तपसा तुष्टस्येश्वरस्याऽनुग्रहात् काण्वसम्बन्धितयैव लोके प्रख्यायते। तमेतं काण्ववेदमधीयते विदन्ति वेति व्युत्पत्त्या काण्वशिष्यप्रशिष्यादिपरम्परायां वर्तमानाः सर्वेऽपि काण्वा इत्युच्यन्ते। एवं ज्ञात्वा काण्वादिषु द्रष्टव्यम्।

तत्रेदं काण्ववेदाख्यं शुक्लं यजुः पूर्वं न व्याख्यातं, किन्तु तैत्तिरीयाख्यं कृष्णं यजुरेव व्याख्यातम्। तस्मादिदानीं काण्व-शाखा व्याख्यायते। यद्यप्येनयोः शाखयोराध्वर्यव एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते, तथापि मन्त्रपाठविशेषैः प्रयोगविशेषैर्महान् भेदः। स चानुष्ठातृभेदेन व्यवस्थितविषयत्वान्न विकल्प्यते। अत एव, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति स्वकीयशाखाध्ययनमनुष्ठानविशेषाय विहीतम्।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यस्यार्थविचारणायां प्रभाकरमतोपन्यासः

अत्रैतद् चिन्तनीयम्। किमेतत् स्वविधिप्रयुक्तं माणवकाध्ययनम्? उताऽध्ययनविधिप्रयुक्तम्? इति। तत्र प्रभाकरो मन्यते—स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यर्थविधिरष्टवर्षमुपनीतं माणवकमध्ययने प्रवर्तयितुं न प्रभवति। अनधीतवेदस्य तद्विधिवाक्यपाठाभावाद्, वाक्याऽर्थज्ञानं व्याकरणादिषडङ्गाध्ययनरहितस्य दूरापेतम्। बालक्रीडासु निरन्तरमासक्तस्यानुष्ठाने प्रवृत्तिराशङ्कितुमप्यशक्या। तस्मान्नायं विधिः प्रवर्तकः। ननु पित्राचार्यादिभिः शिक्षितो माणवकः क्रीडाभ्य उपरतः पित्रादिमुखादेव यथोक्तवाक्यार्थमवगत्याध्ययने प्रवर्तिष्यत इति चेत्? एवं तर्हि पित्राचार्यादिकर्तृकाऽध्यापनप्रयुक्तं माणवकाध्ययनं, न त्वध्ययनविधिप्रयुक्तमित्येतादृशमस्मदीयमेव मतं भवताऽप्यङ्गीकर्तव्यम्। अध्यापनस्य तु विधिरेवमाम्नायते—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इति। ननु पूर्वोक्ताध्ययनविधाविवैतस्मिन्नध्यापनविधावपि योग्योऽधिकारी साक्षान्न श्रूयते। ततोऽध्ययनसिद्धौ तत्प्रयुक्तिरप्यध्ययनस्य दुर्लभेति चेत्? मैवम्। उपनयीतेत्येतेनात्मनेपदेनाचार्यत्वकामस्याधिकारिणः प्रतीयमानत्वात्। संमानोत्सञ्जनाचार्यकरणेत्यादिना सूत्रेणाऽऽचार्यकरणविवक्षायां, नयतिधातोरात्मनेपदं विहितम्। एवमप्युपनयन एवाधिकारिसिद्धिर्न त्वध्यापन इति चेत्? मैवम्। उपनयीत तमध्यापयीतेत्युपनयनाध्ययनयोरेकप्रयोगत्वावगमात्। अयमेवाऽर्थो मनुना स्मर्यते—

उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेन्नरः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।। (मनु०: २।१४०)

आचार्यत्वकामेन पित्रादिनाऽनुष्ठेयम् अध्यापनं माणवककर्तृकाध्ययन-व्यतिरेकेण न सिध्यति । पाचयति याजयतीत्यादौ सर्वत्र धात्वर्थव्यतिरेकेण णिच्प्रत्ययार्थादर्शनात् । अतः पित्रादिभिरनुष्ठेयमध्यापनं माणवकाध्ययनस्य प्रयोजकम् । एवं तर्हि, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यस्य विधेः का गतिरिति चेत् ? ब्रह्मयज्ञाध्ययनमनेन विधीयते इति ब्रूमः । अत एव, तैत्तिरीयब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादित्यारभ्य तस्मिन्नेव प्रकरणे स्वाध्यायस्य महिमानम्—अपहतपाप्मा स्वाध्याय इत्यादिना बहुधा प्रपञ्च्य तस्मादेवमामनन्ति, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवतीति । तस्मादध्यापनविधिप्रयुक्तं माणवकाध्ययनमित्येवं प्रभाकरमतम् ।

पूर्वोक्तस्य प्रभाकर-मतस्य समीक्षा

अत्रोच्यते । नित्यस्य ग्रहणाध्ययनस्य काम्येनाध्यापनेन प्रयोज्यत्वं न संभवति । ग्रहणाध्ययनस्य नित्यत्वमकरणे प्रत्यवायस्मरणादवगन्तव्यम् । तथा च स्मर्यते—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। (म० स्मृ० २।१६८)

अध्यापनं तु कुटुम्बपोषणाय गुरुदक्षिणाकामेनानुष्ठीयत इति तस्य काम्यत्वम् । एतदपि स्मर्यते—

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।। (म० स्मृ० १०।७६)

यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहेषु षट्सु कर्मसु यजनाध्ययनदानानि त्रीण्यदृष्टार्थानि । याजनादीनि तु त्रीणि जीवनार्थानि, न त्वदृष्टार्थानि । यस्तु गुरुदक्षिणामनपेक्ष्य माणवकान् अध्यापयति तस्याध्यापनं विद्यादानरूपत्वाददृष्टार्थमस्तु । न चैतावता एतस्य निषिद्धत्वात् सिध्यति । दानस्य धनवस्त्रादिना सम्पादयितुं शक्यत्वात् । इत्थमनित्यमध्यापनं यदा पित्रादयो तानुतिष्ठन्ति तदा नित्यमध्यापनप्रयुक्तं माणवकस्याध्ययनं न निष्पद्येत । तस्मान्नित्यं ग्रहणाध्ययनं स्वविधिप्रयुक्तमेवेत्यवगन्तव्यम् । ननु स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यस्य वेदब्रह्मयज्ञविषयत्वाद् ग्रहणाध्ययनस्वविधिर्न लभ्यते इति चेत् ? बाढम् । अत एव प्रकाशात्माचार्यैर्विवरणग्रन्थे तमध्यापयीतेत्यस्य माणवकाध्ययनविधिपरत्वमुक्तम् । अत्र अध्यापयीतेति पदे, धात्वर्थो, णिच्प्रत्ययार्थो, विधायकविभक्त्यर्थश्चेति त्रयोऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते । तेषु णिच्प्रत्ययार्थस्य जीवनकामनयैव प्राप्तत्वान्नाऽसौ विधेयः । अतः प्राप्तं तमनूद्य धात्वर्थोऽप्राप्तोऽस्मिन् वाक्ये विधी-

यते । यथा, अग्निहोत्रं जुहोतीति होमं विधाय, दध्ना तु जुहोतीति वाक्ये प्राप्तहोमाऽनुवादेनाऽप्राप्तो दधिगुणो विहितस्तद्वत् । तस्मान्माणवककर्तृकाध्ययनविधिपरमेतद्वाक्यम् । तच्च तदर्थवाचकत्वं योऽष्टवर्षो ब्राह्मणमुपगच्छेत, सोऽधीयीतेत्येवं परिणेतव्यम् । किञ्च सर्वासु स्मृतिषु ब्रह्मचारिप्रकरणेऽध्ययनविधेर्दृष्टत्वात् तन्मूलभूतासु श्रुतिषु विद्यते एवाध्ययनविधिरित्यनुमीयते । तस्मात् स्वविधिप्रयुक्तमध्ययनम् । तत्र माणवकस्याप्रबुद्धत्वेऽपि पित्रादिशिक्षया तदनुष्ठानं सिध्यति । यथा वेदाध्ययनात् प्रागेव पित्रादिशिक्षया सन्ध्यावन्दनसमिदाहरणाद्यनुष्ठानसिद्धिस्तद्वत् । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्ययमेव विधिः कण्वशिष्यान् स्वशाखाविशेषाऽध्ययने प्रवर्तयतीति सिद्धम् ।

स्वाध्यायाध्ययनस्य दृष्टार्थादृष्टार्थत्वे शाङ्करदर्शनानुसारिमतम्

इदमपरञ्चिन्त्यते । किमेतदध्ययनमदृष्टार्थमुत दृष्टार्थमिति ? तत्र इष्टाऽर्थेष्वाहारनिद्रादिषु वैदिकविध्यदर्शनाद् वेदेन विहितस्याऽध्ययनस्य सन्ध्यावन्दनादिवददृष्टार्थत्वं युक्तम् । 'स्वर्गकामा ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादिष्विवैतत्कामाऽधीयीतेत्येवमदृष्टसाध्यफलविशेषो न श्रूयत इति चेत् ? न हि अध्ययनत्वसाम्येन ब्रह्मयज्ञाध्ययने श्रूयमाणं घृतकुल्यादिफलमत्रातिदिश्यताम् । ब्रह्मयज्ञप्रकरणे ह्येवं श्रूयते—'यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति यद्यजूंषि घृतकुल्या, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या' (तै० आ० २।१०) इति । तदेतद् ब्रह्मयज्ञफलं ग्रहणाध्ययनेऽतिदेष्टव्यम् । न चादृष्टचरोऽतिदेश इति वाच्यम् । जैमिनीययोः सप्तमाष्टमाध्याययोरतिदेशस्यैव बहुधा विस्तृतत्वात् । तत्र कर्माङ्गानामेवातिदेशो निरूपितः । घृतकुल्यादिवाक्यं न तु कर्माङ्गावबोधकं किं तु फलकथनेन स्तावकोऽर्थवादः । ईदृशस्यातिदेशो न क्वापि दृष्ट इति चेत् ? मैवम् । वैयासिके गुणोपसंहारपादे, 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्०' (ब्र०सू० ३।२६) इति सूत्रे तस्य दृष्टत्वात् । तथाहि । कौषीतकिनो ब्रह्मविदा परित्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोरितरेतरैरनुकूलैः प्रतिकूलैश्च स्वीकारमिष्टमामनन्ति, न त्वितरस्वीकारम् । तदीयं च वाक्यमेतत्—

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति ।

तत्र भगवान् बादरायणः कौषीतकिशाखायां श्रुतस्येतरस्वीकारस्याथर्वणशाखायामुपसंहारं निर्णीतवान् । सोऽयं फलवाक्यरूपस्याऽर्थवादस्यातिदेशः । तद्वद् घृतकुल्यादिकमतिदिश्यताम् ।

अथवा विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गो ग्रहणाध्ययनफलत्वेन कल्पनीयः । तथाहि, 'विश्वजिता यजेत्' इति यागविधिरेवाम्नातो न तत्र फलविशेषः । तथा

सत्यधिकार्यभावादननुष्ठाने प्राप्ते तत्समाधानं भगवान् जैमिनिरसूत्रयत्—'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्'[1] (जै० सू० ४।३।१५) इति। अस्यार्थः—अधिकारहेतुत्वेन योऽयं फलविशेषोऽपेक्षितः सोऽयं स्वर्गोऽत्र भवेत्। कुतः ? फलकामिनः सर्वान् पुरुषान् प्रति स्वर्गाख्यफलस्य साधारणत्वादिति। स्वर्गो नाम सुखातिशयः। तथा च

दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदाभिधम्॥

अतोऽत्रापि अनेनैव न्यायेन माणवकाध्ययनस्य स्वर्गः फलमित्यदृष्टार्थमध्ययनमिति प्राप्ते, ब्रूमः—दृष्टफलसम्भवे सत्यदृष्टकल्पनमन्याय्यम्। अन्यथा, व्रीहीनवहन्तीत्यत्रापि तण्डुलनिष्पत्तिलक्षणं दृष्टफलं बहुप्रयाससाध्यत्वादुपेक्ष्य सकृन्मुसलप्रहाररूपप्रयासरहितमवघातम् अदृष्टार्थं पुरुषोऽनुतिष्ठेत्। तथा सति शास्त्रीयतण्डुलाभावेन पुरोडाशासिद्धौ यागविधयो बाध्येरन। तस्माद् दृष्टफलसम्भवे तदेवादरणीयम्। सम्भवति ह्यध्ययनस्याक्षरप्राप्तिरूपं दृष्टफलम्। नन्वक्षरप्राप्तिरूपं दृष्टफलं गुरुपूर्वकाध्ययनव्यतिरेकेण लिखितपाठेनापि लभ्यते। आयुर्वेदादिमन्त्रपाठेषु तथा दर्शनात्। तथा सति किमनेनाध्ययनविधिनेति चेत् ? उच्यते। नियमादृष्टार्थोऽयमध्ययनविधिः। यथा तण्डुलनिष्पत्तिरूपस्य दृष्टफलस्य विक्रियनखविदलनादिनापि सिद्धौ नियमादृष्टार्थोऽवघातविधिस्तद्वत्। तस्मादक्षरप्राप्तिः प्रत्यक्षोऽध्ययनविधिरिति सिद्धम्॥

एतद्विषये भट्टगुरुमतयोरुपन्यासः

तदिदं शाङ्करदर्शनाऽनुसारिणं मतमसहमानौ भट्टगुरू मन्येते। भवत्यध्ययनस्याक्षरप्राप्तिः फलं, तथापि भवतामपि विधिर्न पर्यवस्यति। किन्तु प्राप्तैरक्षरैर्योऽयमर्थाऽवबोधस्तस्मिन् विधिः पर्यवस्यति। अर्थावबोधेनानुष्ठाने निष्पन्ने सति पुरुषार्थस्याग्निहोत्रादिफलस्य स्वर्गस्य सिद्धेः। अक्षरप्राप्तिमात्रेण तु न अग्निहोत्राद्यनुष्ठानफलं सिध्यति। तस्मात् फलवदर्थावबोधेऽध्ययनविधेः पर्यवसानमवगन्तव्यम्। यद्यपि विहितस्वाध्यायाध्ययनमात्रादीदानीन्तनेषु सर्वेष्वध्यापकेषु अर्थावबोधो न दृष्टस्तथापि निगमनिरुक्तव्याकरणाद्यङ्गपरिशीलनवत्सु दृष्ट एवर्थावबोधः। व्याकरणादिपरिशीलनमात्रेणार्थप्रतीतिमात्रे सत्यपि तन्निर्णयो न लभ्यते।

---

१. तथा च तत्रत्यं शबरभाष्यम्—एवं जातीयकेषु एतत् समधिगतम्, एकं फलमिति। इदमिदानीं सन्दिह्यते—किं यत् किञ्चित् उत स्वर्ग इति। यत् किंचिदिति प्राप्तं विशेषानभिधानात्। तत उच्यते स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्। सर्वे हि पुरुषाः स्वर्गकामाः। कुत एतत्? प्रीतिर्हि स्वर्गः। सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते। किमतो यद्येवम्। अविशेषवचनः शब्दो न विशेषे व्यवस्थापितो भविष्यति। यजेत कुर्यादिति। तस्मात् स्वर्गफलमेवंजातीयकमिति।

अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यादिवाक्येषु केन द्रव्येणाऽक्ता इत्यादेः संदेहस्यानपगमादिति चेत् । एवं तर्हि निर्णायकं मीमांसाशास्त्रमनेनाध्ययनविधिनार्थनिर्णयाय स्वीक्रियताम् । यथाऽवघातविधिस्तण्डुलनिष्पत्तिफलसिध्यर्थोऽवघातस्यावृत्तिं स्वीकरोति तद्वत् । तस्मात् फलवदर्थावबोधे पर्यवस्यत्ययमध्ययनविधिर्न त्वक्षरप्राप्तिमात्र इति प्राप्ते ब्रूमः—

किमयमर्थावबोधः स्वयमेव पुरुषार्थस्य स्वर्गहेतुः ? उताऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानद्वारेण । नाऽऽद्यः । अनुष्ठानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । द्वितीये तु यथार्थावबोधस्यानुष्ठानहेतोः परम्परया पुरुषार्थहेतुत्वम् । एवमर्थावबोधहेतुभूताया अक्षरप्राप्तेरपि परम्परया पुरुषार्थहेतुत्वाद्विधिरक्षरप्राप्तौ पर्यवस्यतु । किञ्चानुष्ठानद्वारस्वर्गफलोपेतेऽर्थावबोधे विधिपर्यवसानं वदतः कृत्स्नवेदाध्ययनं न सिध्येत् । राजसूयाऽश्वमेधादावनधिकारिणो ब्राह्मणस्य तत्फलत्वपर्यन्तार्थावबोधासंभवात् । अक्षरप्राप्तिफलवादिनस्तु कृत्स्नवेदाध्ययनं सिध्यति । अक्षरप्राप्तिर्ब्रह्मयज्ञे जपहेतुत्वात् । तत्र ब्राह्मणोऽपि राजसूयाश्वमेधादिवेदविभागे भागोत्तरब्रह्मयज्ञजपं करोत्येव । विधेरर्थावबोधपर्यन्तत्वाऽभावे कथमर्थावबोधसिद्धिरिति चेत् ? काव्यनाटकादिग्रन्थेषु वैदिकविधिमन्तरेण यथा अर्थावबोधस्तद्वद् भविष्यति । विध्यर्थाभावेऽर्थावबोधप्रयुक्तमदृष्टं किञ्चिदपि न सिध्यतीति चेत् ? मैवम् । अर्थावबोधस्याध्ययनविधिप्रयुक्त्यभावेऽपि विध्यन्तरप्रयुक्तत्वेन तस्यादृष्टस्य सिद्धेः । विध्यन्तरं चैवमाम्नायते—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' ।

'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते ।
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा' ॥ (नि० १।१८)

तस्मादध्ययनविधिः पाठमात्रपर्यवसायी । अर्थावबोधस्तु विध्यन्तरप्रयुक्त इति सिद्धम् ॥

वेदस्य विषयविभाग-निरूपणम् अथेदानीं विहितार्थाववोधसिद्धये काण्ववेदो व्याख्यायते कण्वसंबन्धश्च वेदस्य पूर्वमेव प्रसिद्धः प्रदर्शितः । काण्वसंबन्धिशाखाया वेदत्वं चाऽलौकिकपुरुषार्थोपायवेदनहेतुत्वादवगन्तव्यम् । तथा चोक्तं—

प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
एतं वदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ-कर्मकाण्डो, ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्यकाऽऽख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयो कर्मकाण्डत्वम् । तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात् । बृहदारण्यके तु तृतीयाद्यध्यायेषु ब्रह्म प्रतिपाद्यते । अतः कर्माणि

वेदस्य विषयः तदवबोधः प्रयोजनम् । बोधार्थी चाधिकारी । तत्र प्रयोजनं विषयेण जन्यते । अधिकारिविषयोस्तु प्रयोजनद्वारेणोपकार्योपकारकत्वसंबन्धः । इत्थं विषयप्रयोजनाधिकारिसंबन्धरूपस्याऽनुबन्धचतुष्टस्य विद्यमानत्वात् तदीयप्रामाण्यस्य जैमिनिना प्रथमपादे प्रपञ्चितत्वाच्च वेदो व्याख्यातुं योग्यः ।

कर्मकाण्डस्य व्याख्यानप्राथम्ये योग्यत्वविचारः

तस्मिंश्च वेदे कर्मकाण्डः प्रथममाम्नातः । यद्यपि ब्रह्मणोऽभ्यर्हितत्वाद् ब्रह्मकाण्डस्यैव प्राथम्यमुचितम् । तथापि कर्मभिः साध्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण पुरुषस्य ब्रह्मकाण्डेऽधिकाराभावादधिकारहेतुकर्मप्रतिपादकः काण्डः प्रथमं समाम्नातः । कर्माणि च चतुर्विधानि । नित्यं, नैमित्तिकं, काम्यं, निषिद्धं चेति । तत्र नित्यनैमित्तिकयोरननुष्ठानान्निषिद्धसेवनाच्च प्रत्यवाय उत्पद्यते । तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति––

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ (या०स्मृ०३।२१९)

तेन च प्रत्यवायेन बुद्धिमान्द्ये सति नित्यानित्यवस्तुविवेकवैराग्यादीनामनुदयात् ब्रह्मविविदिषा पुरुषस्य न जायते । तस्माद् विविदिषाहेतुत्वं नित्यनैमित्तिककर्मणां बृहदारण्यके समामनन्ति––

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ।
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ॥

तदनुष्ठानेन तमोगुणरूपे चित्तमालिन्य अपगते सति सत्त्वगुणरूपस्य नैर्मल्यस्योदयाद् विवेकवैराग्यादिसंपत्तौ सत्यां परमपुरुषार्थरूपे ब्रह्मतत्त्ववेदनेऽभिरुचिर्जायते । 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत्', 'चित्रया पशुकामः' इत्यादीनि तु काम्यकर्माणि परमपुरुषार्थसाधनाऽभावेऽपि स्वाभाविककामग्रस्तानां पुरुषाणां वैदिकमार्गे फलसंवादेन श्रद्धामुत्पादयितुमेवाम्नायन्ते । तस्मात् तानि वेदे प्रासङ्गिकानि । परमतात्पर्यं तु वेदस्य नित्यकर्मस्वेव । तस्मात् कर्मकाण्डगतयोः संहिताशतपथग्रन्थयोः प्राधान्येन नित्यकर्माण्याम्नातानि ।

यजुर्वेदस्याध्यायगता विषयाः

तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति । तस्मिंश्च संहिताग्रन्थे चत्वारिंशदध्यायाः । तेषु प्रथमद्वितीययोरध्याययोर्दर्शपूर्णमासौ । तृतीयेऽन्वाधानाः होत्राग्न्युपस्थानचातुर्मास्यानि । चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमनवमेषु षट्स्वग्निष्टोमः । दशमे वाजपेयः । एकादशे राजसूयः । द्वादशमारभ्य विंशान्तेषु नवस्वग्निचयनम् । एकविंशद्द्वाविंशत्त्रयोविंशेषु त्रिषु सौत्रामणी । चतुर्विंशपञ्चविंशषड्विंशसप्त-

विंशेषु चतुर्ष्वश्वमेधः । अष्टाविंशमारभ्य त्र्यस्त्रिंशान्तेषु षट्सु तत्र तत्र विप्रकीर्णा लिङ्गविनियोज्या अनारभ्याधीता मन्त्राः । चतुस्त्रिंशपञ्चत्रिंशयोः पुरुषमेधः । षट्त्रिंशे शान्तिः । सप्तत्रिंशाष्टत्रिंशैकोनचत्वारिंशेषु प्रवर्ग्यः । चत्वारिंशे च ब्रह्मविद्या ।

संहितारम्भे दर्शपूर्णमासेष्टिनिरूपणस्य औचित्यविचारः ननु संहिताया आदौ कर्मान्तरं परित्यज्य दर्शपूर्णमासेष्टिरेव कुतः प्रतिपाद्यत इति चेत् ? प्रकृतित्वान्निरपेक्षत्वाच्चेति ब्रूमः । प्रकर्षेणाऽङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः । कृत्स्नाङ्गविषयत्वमुपदेशस्य प्रकर्षः । विकृतिषु तु विशेषाङ्गमात्रस्योपदेशः क्रियते । अङ्गान्तराणि तु प्रकृतेरतिदिश्यन्ते । अतः उपदेशस्य प्रकर्षाभावः । प्रकृतिस्त्रिविधा—अग्निहोत्रम्, इष्टिः, सोमश्चेति । त्रिष्वप्येतेष्वन्यनैरपेक्ष्येण स्वाङ्गजातं सर्वमुपदिष्टम । तत्र सोमयागस्य स्वरूपेणान्यनैरपेक्ष्येष्वप्यङ्गेषु दीक्षणीयादिषु दर्शपौर्णमासेष्टिसापेक्षत्वाद् न पूर्वभावित्वं युक्तम् । इष्टेस्तु सोमयागनैरपेक्ष्यात् सोमात् प्राचीनत्वं युक्तम् । यद्यप्यग्निहोत्रस्य स्वरूपाङ्गेषु नास्त्यन्यापेक्षा, तथाप्यग्निसिद्धचपेक्षत्वाद् आहवनीयाद्यग्नीनां च पवमानेष्टिसाध्यत्वात् पवमानेष्टीनां च दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् परम्परयाग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासापेक्षाऽस्तीति प्रथमभावित्वं युक्तम् । दर्शपूर्णमासयोरग्निसाध्यत्वादग्निसाधकमाधानं प्रथमतो वक्तव्यमिति चेद् ? मैवम् । नाधानमात्रेणाग्नयः सिध्यन्ति किन्तु पवमानेष्टिभिरपि । ताश्चेष्टयो दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् साक्षादेव दर्शपूर्णमासावपेक्षन्ते । दर्शपूर्णमासौ त्वग्निद्वारा पवमानेष्टिसापेक्षावपि न साक्षात् पवमानेष्टोरपेक्षेते । अतो निरपेक्षत्वाद् दर्शपूर्णमासेष्टिरेव प्रथमं वक्तव्या । ऋग्वेदसामवेदयोरादौ दर्शपूर्णमासेष्टिर्नाम्नातेति चेत् ? बाढम् । यजुर्वेदमपेक्ष्य दर्शपूर्णमासयोरादित्वमुक्तम् । कर्मकाण्डविषये यजुर्वेदस्य प्राधान्यात् । आनुपूर्व्या कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम् । तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते । स्तोत्रादीनि तु सामवेदे । तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः; चित्रस्थानीयावितरौ । तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम् । तस्मिश्च दर्शपूर्णमासेष्टिरादौ समाम्नाता तस्यां चेष्टौ, इषे त्वादयो मन्त्राः ।

मन्त्रस्य सामान्यलक्षणनिरूपणम् तेषां च मन्त्राणां सामान्यलक्षणं न्यायविस्तराभिधे ग्रन्थे द्वितीयाऽध्याये प्रथमपादे द्वाभ्यामधिकरणाभ्यामित्थं विचारितम्—

> 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे' इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।
> नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥

याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ।।

आधानप्रकरण इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति । तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, कुतः ? अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । 'विहितार्थस्याभिधायको मन्त्रः' इत्युक्ते, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते०' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः । 'मननहेतुर्मन्त्रः' इत्युक्ते, ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिरिति चेत् ? मैवम् । याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात् । तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति । 'उरु प्रथस्व' इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः । 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः । 'इषे त्वा' (वा० सं० १।१) इत्यादयः शाखाच्छेदनादिस्मारकाः । 'अग्न आयाहि वीतये' (सा० सं० १।१) इत्यादय आमन्त्रणोपेताः । एवमन्येऽप्युदाहार्याः । ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणमुच्यते । तस्मात् समाख्यानं मन्त्रलक्षणम् ।। (जै० न्या० वि० २।१।७)

ऋगादीनां त्रिविधानां मन्त्राणां विशिष्टलक्षणनिर्देश-

ऋगादिलक्षणं पूर्वोत्तरपक्षावाह—
न ऋक्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते ।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः ।

इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि' इति । त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदाः । त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः । ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधं वदन्ति तं गोपायेति योजना । त्रिविधानाम् ऋक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति । कुतः साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । 'अध्यापकप्रसिद्धेष्वृग्वेदादिषु पठितो मन्त्र ऋगादिरूपः' इति हि वक्तव्यम् । तच्च सङ्कीर्णम् । तथाहि । अग्नये मथ्यमानायानुब्रू३हि, हविर्धानाभ्यां प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रू३हि इत्यादीनि यजूंष्यृग्वेदे समाम्नातानि । 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः । न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति । ऋग्रूपत्वेन तद्ब्राह्मणे व्यवहृतत्वात् । सावित्र्यर्चेति हि ब्राह्मणम् । 'एतत् साम गायन्नास्ते' इति हि प्रतिज्ञाय, हाउ इत्यादिकं साम यजुर्वेदे गीतम् । 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंसितमसि' इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे (छा० उ० ३।१७।६) समाम्नायन्ते । तस्मान्नास्ति लक्षणमिति चेत् ? न, पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात् । पादेनार्द्धर्चेनोपेता वृत्त-

बद्धा मन्त्रा ऋचः। गीतिरूपा मन्त्रा सामानि। वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि इति व्यवस्थितं लक्षणम्। (जै० न्या० वि० २।१।१२)॥

मन्त्राणामनुष्ठेयार्थस्मारकत्वप्रतिपादनम्

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे मन्त्रेष्वन्यद्विचारितम्——

"मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः।
यागे कृतपुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः।
न तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः॥

'उरु प्रथस्व' इत्ययं कश्चिन्मन्त्रः। तस्याऽयमर्थः—भो पुरोडाश त्वमुरु विपुलता यथा भवति तथा कपालेषु प्रसर इति हीदृशा मन्त्रा यागप्रयोगेषूच्चार्यमाणा अदृष्टमेव जनयन्ति, न त्वर्थप्रकाशनाय तदुच्चारणम्। पुरोडाशप्रथनलक्षणार्थस्य ब्राह्मणवाक्येनापि भासमानत्वात्। 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति हि ब्राह्मणवाक्यमिति चेत्? न एतद्युक्तम्। अर्थप्रत्यायनस्य दृष्टप्रयोजनस्य सम्भवे सति केवलादृष्टस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्। तस्माद् दृष्टमर्थानुस्मरणमेव यागप्रयोगे मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनम्। ब्राह्मणवाक्येनाप्यर्थानुस्मरणसम्भवे मन्त्रेणैवानुस्मरणीयमिति यो नियमस्तस्यादृष्टं प्रयोजनमस्तु" (जै० न्या० वि० १।२।४)।

ननु मन्त्राणामनुष्ठेयार्थस्मारकत्वं क्वचिद् व्यभिचरितम्। तथाहि——

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्णवुत वाऽन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसुभिराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्।

इत्यस्मिन् मन्त्रे धनमाशास्ते इत्ययमर्थः प्रतीयते धनुष्ठेयार्थस्तु शकटविशेषस्थापनायाऽऽधारभूतकाष्ठस्थापनं, तत्तु ब्राह्मणे न विधीयते। 'दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या' इत्याशीरेतयर्चा दक्षिणस्य हविर्धानस्य मेढीं निहन्तीति। नाऽयं दोषः। अस्याधिकरणस्य लिङ्गविनियोगविषयत्वात्। उदाहृतस्तु मन्त्रः श्रुत्या विनियुज्यते।

मन्त्रार्थज्ञाने ऋषिच्छन्दोदेवतानामावश्यकं वेदनम्

य एतेऽर्थस्मरणाय प्रयोक्तव्या मन्त्राः सन्ति, तेषु सर्वेष्वृष्यादिकं वेदितव्यम्। अत एव छन्दोगा ऋष्याद्यवेदने बाधमभिधाय तद्वेदनविधिमामनन्ति——'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यते' इत्यादिरवेदने बाधः। तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यादिति वेदनविधिः।

तथा कात्यायनाऽऽचार्योऽप्याह——'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनूते जपति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवद्, अथ योऽर्थवित् तस्य वीर्यवत्तरं भवति

जपित्वा हुत्वेष्टवा तत्फलेन युज्यते' इति । अस्यास्तु मन्त्रब्राह्मणात्मिकायाः काण्वशाखायाः सर्वस्या अपि स्वयम्भुब्रह्मारभ्य पौतिशाखापर्यन्ताः सम्प्रदायप्रवर्तका ऋषयस्त्रिषु वंशब्राह्मणेषु मन्त्रविशेषेषु स्पष्टमाम्नाताः । काण्डविशेषेषु मन्त्रविशेषेषु चाऽपेक्षितास्तत्तदृषिविशेषा ब्राह्मणगताख्यायिकाभिरनुक्रमणिकादिग्रन्थैश्चावगन्तव्याः । तदज्ञानेऽपि वंशोक्तानामृषीणामवगतत्वादवेदनप्रयुक्तो बाधो नास्ति । ऋषिविशेषाणामपि विज्ञाने फलाधिक्यमस्ति । अत एव वीर्यवत्तरं भवतीति कात्यायनवाक्यं पूर्वमुदाहृतम् । छन्दस्तु मन्त्राणाम् इषे त्वादीनामनियताक्षरत्वान्नास्त्येव । ये तु यजुषामपि छन्द इच्छन्ति, तैः कात्यायनोक्तसर्वानुक्रमणिकायां पञ्चमाऽध्यायमभ्यस्य तद्द्वारेण तत्तन्मत्रच्छन्दोऽनुसन्धेयम् । देवता तु मन्त्रप्रतिपाद्या । सा च मन्त्रलिङ्गादवगन्तव्या । येषु मन्त्रेष्वग्नीन्द्रादयश्चेतनाः प्रतिपाद्यन्ते । तेष्वग्न्यादीनां देवतात्वं विस्पष्टम् । येषु तु मन्त्रेषु पलाशशाखाबर्हिर्जुह्वादयोऽचेतनाः प्रतिपाद्यन्ते तेष्वपि शाखादिशब्दाभिधेयाः तत्तद्द्रव्याभिमानिनश्चेतना देवता अवगन्तव्या, । अत एव भगवान् बादरायणो मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्नित्यादिष्वचेतनद्रव्येषु चेतनोचितव्यापारमुपपादयितुम्, 'अभिमानिव्यपदेशस्तु०[1]' (वे० २।१।५) सूत्रयामास । एवञ्च सति, इषे त्वादीनां मन्त्राणाम् ऋषिच्छन्दोदेवता यथोक्तनीत्या सुबोधाः । तस्माद् ग्रन्थबाहुल्यभीरुभिरस्माभिः प्रतिमन्त्रं नोदाह्रियन्ते । विनियोगज्ञानाय तु प्रतिमन्त्रं कात्यायनसूत्रवाक्यमुदाह्रियते । मन्त्रार्थज्ञानाय काण्वसम्बन्धिब्राह्मणं तत्र यत्र यथासम्भवमुदाहरामः । तदर्थावबोधदार्ढ्याय शाखान्तरविषयमप्याऽऽपस्तम्बसूत्रं, बौधायनसूत्रं तैत्तिरीयब्राह्मणं च क्वचित्क्वचिदुदाहरामः ॥

दर्शयागात्पूर्वं नियमेन विधेया अनुष्ठानविषयः

दर्शयागं चिकीर्षुरमावास्यायां प्रातर्नित्याग्निहोत्रं कृत्वा ततो दर्शयागार्थं, 'ममाग्ने वर्च' इत्यादिभिर्मन्त्रैर्वह्निषु समिदाधानरूपमन्वाधानं कृत्वा वत्सापाकरणं कुर्यात् । किमिदं वत्सापाकरणमिति चेत् ? सन्ति दर्शयागे त्रीणि प्रधानहवींषि, आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयः इति । तत्र प्रतिपदि होतुं तस्य दध्नः सम्पादनायाऽमावस्यायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः । तद्दोहनार्थं प्रातः काले लौकिकदोहनादूर्ध्वं स्वमातृभिः सह सञ्चरन्तो वत्सा मातृभ्यो अपाकरणीयाः । तदिदं वत्सापाकरणम् । एतच्च कण्वो महर्षिः स्वकीये ब्राह्मणे विधातुमिदं वाक्यं पठति—'स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति' इति ।

तदेतदुपपादयितुम् अर्थवादे गायत्रीकृतं सोमारोहणमभिधाय तदा-

---

१. अस्य सूत्रस्य शाङ्करभाष्यं सप्तदशपृष्ठे पूर्वमेवोपन्यस्तमस्माभिः । तत्तु जिज्ञासुभिस्तत्रावलोकनीयमिति ।

हरणवेलायां पक्षिरूपाया गायत्र्याः पक्षविशेषः सोमवल्ल्याः पर्णं च भूमावपतत्। तयोरन्यतरत् पर्णनामकः पलाशवृक्षोऽभूत्। अतः सोमसम्बधाद् गायत्रीसम्बन्धाच्च पलाशवृक्षः प्रशस्य इत्यभियीयते। तं विधिमेवमुपसंहरति। वर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्या वा सोनस्य वा राज्ञस्तत् पतित्वा पर्णोऽभवत्। तस्मात् पर्णो नाम यत् तत्र किञ्चित् सोमस्य त्यक्तं, तस्मात् पर्णशाखया वत्सानपाकरोतीति।

गायत्र्याः सोमाहरणं, कद्रूश्च वै सुपर्णा चेत्यादौ तैत्तिरीयब्राह्मणगतानुवाके, 'सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत् इत्यादौ बहवृचब्राह्मणे च प्रपञ्चितम्। पलाशवृक्षस्य सोमसम्बन्धिपर्णादुत्पन्नत्वेन वृक्षजातिषु ब्राह्मणवृक्षतया प्रशस्तत्वात् तदीयशाखया वत्सापाकरणं तित्तिरिः स्वकीयब्राह्मणेऽपि स्पष्टमित्थमुवाच—'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्। तस्य पर्णमुच्छिद्येत्। तस्य पर्णोऽभवत्। तस्य पर्णस्य पर्णत्वम्। ब्रह्म वै पर्णम्। यत् पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ब्रह्मणेवैनानपाकरोति' इति। न चाऽत्र सोमवल्ल्याः पत्रमात्रस्य कथं वृक्षस्य सम्पत्तिरिति विस्मेतव्यम्। विधातुरीश्वरस्याऽचिन्त्यशक्तित्वात्। अन्यथा बीजाद् वृक्ष इत्यत्रापि, क्व बीजं, कुत्र वा वृक्ष इत्ययं विस्मयः केन वार्येत। सर्वत्र पर्णेभ्यो वृक्षः प्रसज्ज्येतेत्ययमतिप्रसङ्गोऽपीश्वरसङ्कल्पाभावेन परिहर्तव्यः स च सङ्कल्पः कार्यैकसमधिगम्यः। तस्माद्वेदार्थे कुतर्कैर्न चोदनीयम्। तस्याः पर्णवृक्षशाखायाश्छेदनेन प्रथममन्त्रं कात्यायनः स्वकीयसूत्र इत्थं विनियुङ्क्ते-पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति वा छिनद्मीति वोभयोः साकाङ्क्षत्वात्। सन्नमयामीति वोत्तर इति। अस्याऽयमर्थः—पलाशशाखा शमीशाखा चाऽत्र विकल्पिता। तच्छेदने, इषे त्वेत्यूर्जे त्वेति चैतौ मन्त्रो विकल्पितौ। तयोरुभयोः क्रियापदाकाङ्क्षत्वादर्थावबोधाय छिनद्मीति पदमध्याहर्तव्यम्। सोऽयमेकः पक्षः। इषे त्वेति छेदनाऽर्थो मन्त्रः। ऊर्जे त्वेति सन्नमनाऽर्थो मन्त्रः। सन्नमननृजूकरणम्। तदिदं पक्षान्तरमिति। अत्र बौधायन उभयोर्वाक्ययोरेकमन्त्रत्वमाश्रित्य तं मन्त्रं छेदने विनियुङ्क्ते—'तामाछिनत्तीषे त्वोर्जे त्वेति'। आपस्तम्बस्तु तदभिसन्धाय मन्त्रभेदपक्षमपि कश्चिदाश्रित्य विनियोगभेदमाह—'सन्नयतः पलाशशाखां शमीशाखां वा हरति। इषे त्वोर्जे त्वेति तामाच्छिनत्यपि वेषे त्वेत्याच्छिनत्त्यूर्जे त्वेति संनममत्यनुमार्ष्टि वेति'। सन्नयतः सान्नायनामकं दधिरूपं हविः कुर्वत इत्यर्थः॥

काण्वशिष्यास्तु मन्त्रभेदं विनियोगभेदं चाश्रित्येत्थमामनन्ति—तामाच्छिनत्तीषे त्वेति वृष्टये तदाह यदिषे त्वेत्यूर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि यद्वृष्टया ऊर्क् रसो जायते तस्मा उ एतदाह तस्मादाहोर्जे त्वेतीति॥ अस्यायमर्थः—तां पर्णशाखाम्, इषे त्वेति मन्त्रेणाध्वर्युः साकल्येन छिन्द्यात्। छेदकालेऽध्वर्युः इषे त्वेति यद् वाक्यमाह तद्वाक्यं वृष्टिसिद्धचर्थम्। अधिकेनादरेण सेवते,

ऊर्जे त्वेति मन्त्रेण तां शाखामनुमृज्यात्। अनुमार्जनमानुलोम्येन तस्यां संलग्नधूल्याद्यपनयनम्। यदि प्रभूताया वृष्टेः सकाशाद् व्रीहियवाद्यभिवृद्धि हेतुरूर्जशब्दाऽभिधेयः समीचीनजलात्मको रसो जायते, तदा प्राणिनामुपकारो भवति। तदर्थमेवाऽध्वर्युरेतदाह। किमाहेत्याशङ्क्य, तस्मादाहोर्जे त्वेति वाक्येन तदेव स्पष्टीक्रियते इति। काण्वाभिमत एव मन्त्रभेदपक्षो जैमिनीयैरपि द्वितीयाध्याये प्रथमपादे इत्थं निर्णीतः—

'इषे त्वादिर्मन्त्र एको भिन्नो वैकः क्रियापदे।
असत्यर्थस्मारकत्वादेकाऽदृष्टस्य कल्पना॥
छेदने मार्जने चैतौ विनियुक्तौ क्रियापदे।
अध्याहृते स्मारकत्वान्मन्त्रभेदोऽर्थभेदतः॥'

(जै० न्या वि० २।१।१५)

'इषे त्वोर्जे त्वा' (वा० सं० १।१) इत्यत्र क्रियापदाभावेन 'उरु प्रथस्व' इति मन्त्रवदर्थस्मारकत्वाभावात्, अदृष्टार्थे सत्येकादृष्टस्य कल्पने लाघवादेक एव मन्त्र इति चेत् मैवम्। काण्वब्राह्मणे छिनत्त्यनुमार्ष्टि इति विनियोगभेदश्रवणात्, तदनुसारेण इषे त्वा छिनद्मि ऊर्जे त्वाऽनुमार्ज्मि इति क्रियापदेऽध्याहृते सति, अर्थद्वयस्मारकत्वाद् भिन्नौ मन्त्रौ इति॥

इति शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतकाण्वसंहितायाः सायणकृता
भाष्योपक्रमणिका समाप्ता



अथर्ववेदसंहितायाः

सायणाचार्यकृता

भाष्यभूमिका

अथर्ववेदसंहिताया

भाष्यभूमिका

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
अविद्याभानुसंतप्तो विद्यारण्यमहं भजे ।
यदर्ककरतप्तानामरण्यं प्रीतिकारणम् ॥ ३ ॥
तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः ।
अभूद्धरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः ॥ ४ ॥
विजितारातिव्रातो वीरश्रीहरिहरक्षमाधीशः ।
धर्मब्रह्माध्वन्यः कलिं स्वचरितेन कृतयुगं कुरुते ॥ ५ ॥
साधयित्वा महीं सर्वां श्रीमान् हरिहरेश्वरः ।
भुङ्क्ते बहुविधान् भोगानसक्तो रामवत् सुधीः ॥ ६ ॥
विजयी हरिहरभूपः समुद्वहन् सकलभूभारम् ।
षोडश महन्ति दानान्यनिशं सर्वस्य तृप्तये कुर्वन् ॥ ७ ॥
तन्मूलभूतमालोच्य वेदमाथर्वणाभिधम् ।
आदिशत् सायणाचार्यं तदर्थस्य प्रकाशने ॥ ८ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥
व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ॥ १० ॥

ऋत्वपेक्षितस्य क्रियाकलापस्य ऋग्यजुःसामवेदैरेव सिद्धत्वात् अथर्ववेदस्य नास्त्येव आकांक्षेति पूर्वः पक्षः

ननु 'यज्ञं व्याख्यास्यामः । स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते' [सत्या० सू० १ । १] इति स्मरणाद् ऋग्यजुःसाम्नामेव फलवत्कर्मशेषत्वम् अवसीयते । प्रादुर्भावोऽपि त्रयाणामेव श्रूयते । 'त्रयो वेदा अजायन्तः, ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्' [ऐ० ब्रा० ५ । ३२] इति ।

'ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
यजुस्तस्माद् अजायत' [ऋ० १० । ९० । ९] इति च ॥

संख्यानियमश्च श्रूयते। 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' [तै० ब्रा० ३।१२।९।१]। 'यम् ऋषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि' [तै०] ब्रा० १।२।२६] इति॥

धर्मविशेषश्रवणाच्च त्रित्वम् अवगम्यते। 'उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांशु यजुषा उच्चैः साम्ना' [सत्या० सू० १।१।१] इति। 'यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं [तद्] यद् ऋचा तद् दृढम्' [तै० सं० ६।५।१०।३] इति। ते च ऋगादयो विस्तरेण व्याख्याताः। अस्य तु वेदस्य त्रयीव्यतिरिक्तत्वेन कर्मशेषत्वाभावाद् न व्याख्यानहिता।

अथोच्यते। ऋग्वेदेन हौत्रमेव प्रतिपाद्यते, यजुषा आध्वर्यवम्, साम्ना औद्गात्रम् इति वेदत्रयस्य प्रतिनियतप्रयोगप्रतिपादनपरत्वात् अवशिष्टब्रह्म-कर्तव्यताप्रतिपादकश्चतुर्थो वेदो व्याख्येयः। तदभावे यज्ञशरीरस्य अनिष्पत्तेरिति। मैवम्। उक्तैरेव त्रिभिर्वेदैः क्रत्वपेक्षितस्य ब्रह्मकर्तव्यस्यापि सिद्धेः। तथा च ऐतरेयब्राह्मणे। यद् ऋचैव होत्रं क्रियते यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति। अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्' [ऐ० ब्रा० ५।३३] इति। स्मर्यते च––

'ऋग्वेदेन होता करोति सामवेदेनोद्गाता यजुर्वेदेनाध्वर्युः सर्वैर्ब्रह्मा' इति।

अतश्चतुर्णां होत्रादीनाम् ऋत्विजाम् अपेक्षितस्य क्रियाकलापस्य त्रय्यैव सिद्धत्वात् न चतुर्थस्य वेदस्याकाङ्क्षास्ति कुतस्तस्य व्याख्यानचिन्तेति॥

ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादनतात्पर्यतया भवत्येव आकाङ्क्षा व्याख्यानयोग्यता चाथर्ववेदस्येत्युत्तरः पक्षः

अत्रोच्यते। हौत्रम् आध्वर्यवम् औद्गात्रमिति समाख्यया त्रयाणामपि वेदानां प्रतिनियतहोत्रादिकर्तव्यप्रतिपादनपरत्वावगमात् न ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादने तात्पर्यं सम्भवति। यथा अन्यपरस्य यजुर्वेदस्य होतृकर्तव्यतायाम्, यथा वा तथाविधस्य ऋग्वेदस्य अग्निहोत्रे। एवं त्रय्यां तत्र तत्र प्रतिपादितं यद् ब्रह्मत्वम् तद् अथर्ववेदसिद्धमेव लेशेनोक्तम् इति अतात्पर्यविषयत्वात् अकृत्स्नत्वाच्च नादरणीयम्। अकृत्स्नत्वमेव अभिप्रेत्य शाखान्तरोक्तं हौत्रं नानुष्ठेयम् इति आश्वलायनेनोक्तम्। 'तद्ये केचन छान्दोग्ये वाध्वर्यवे वा हौत्रामर्शाः समाम्नाता न तान् कुर्याद् अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्य' [आश्व० ६।१३] इति। अत एव वाङ्मनसनिर्वर्त्यस्य यज्ञशरीरस्य अर्धमेव त्रिभिर्वेदैर्निष्पाद्यते। अर्धान्तरं तु अथर्ववेदेनैवेति श्रूयते। 'प्राजापतिर्यज्ञम् अतनुत। स ऋचैव हौत्रम् अकरोद्। यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्' इति प्रक्रम्य 'स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति' [गो० ब्रा० ३।२]

इति। ऐतरेयब्राह्मणेऽपि त्रयीनिष्पाद्य एकः पक्षः मनोनिष्पाद्यः परः पक्ष इति श्रुतम्। अयं वै यज्ञो योऽयं पवते। तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ। वाचा च हि मनसा च यज्ञोऽवर्तत। इयं वै वाग्। अदो मनः। तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति' [ऐ० ब्रा० ५।३३] इति। एतदेवाभिप्रेत्य गोपथब्राह्मणे पूर्वभागे प्रश्न पूर्वकम् अथर्वविद एव ब्रह्मत्वम् आम्नातम्। 'अथ [ह] प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदान् उवाच। कं वो होतारं वृणीयाम्। कम् अध्वर्युम्। कम् उद्गातारम्। कं ब्रह्माणम् इति। ते ऊचुः। ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व। यजुर्विदम् अध्वर्युम्। सामविदम् उद्गातारम्। अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। तथा ह्यस्य यज्ञः चतुष्पात् प्रतितिष्ठति' [गो० ब्रा० २।२४] इति। तत्रैव विपक्षबाधश्च श्रुतः। अथ चेद् नैवंविदं ब्राह्मणं वृणुते दक्षिणत एवैषां यज्ञो रिच्यते' [गो० ब्रा० २। २४] इति। 'यथैकपात् पुरुषो यन् अनुभयचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति एवमेवास्य यज्ञा भ्रेषं न्येति' (गो० ब्रा० ३।१) इति।

'स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते' इति स्मृतिस्तु उदाहृतश्रुत्यनुसारेण मुख्यस्य अथर्वविदोऽसम्भवे तत्तच्छाखासु यावदुक्तब्रह्मत्वमात्रेणापि, क्रतुशरीरनिष्पत्तिर्भवति इत्येमभिप्राया। 'त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्' (ऐ० ब्रा० ५।३३) इति श्रुतिरपि प्रकृतव्याहृतित्रयापेक्षत्वात् अविरुद्धा। अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदाऽथर्वाङ्गिरसः' (बृ० आ० ४।४।१०) इति वाजसनेयकश्रुत्यनुसारेण त्रयाणाम् उत्पत्तिश्रुतिः उपलक्षणतया व्याख्येया॥

'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' इति च श्रुतिः 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे' (तै० ब्रा० ३।१२।९।१) इति प्रकृतकालत्रयाभिप्रायेण। वेदानां चतुष्ट्वस्य सर्वत्र श्रुतत्वाद्। तथा चाग्रे तापनीयोपनिषदि आम्नायते 'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः' (नृ० पू० ता० १) इति। मुण्डके च—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मु० १। १) इति॥

'यम् ऋषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। त्रैविध्यं तु वेदगतमन्त्राभिप्रायम्। तद् उक्तं जैमिनिना—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (जै० २।१।३२)। 'तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै० २। १।३५) 'गीतिषु सामाख्या' (जै० ३।१।३६) 'शेषे यजुःशब्दः' (जै० २।१।३७) इति। तद् अस्मिन्नपि वेदे विद्यत इति न चतुष्ट्वव्याकोपः।

उच्चैष्ट्वादिधर्मनियमोऽपि अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद इत्युपक्रमवाक्यगतवेदत्रयापेक्ष इति न विरोधः।

ननु अस्मिन् वेदे मन्त्राणाम् ऋगाद्युक्तलक्षणयोगात् तदन्यतमव्यपदेशभावत्वं युक्तम्। नैव दोषः। अथर्वाख्येन ब्रह्मणा दष्टत्वात् तन्नान्ना अयं

वेदो व्यपदिश्यते। तथा हि। पुरा खलु सृष्टयर्थं स्वयम्भु ब्रह्म तपस्तेपे। तस्मात् तप्यमानात् सर्वेभ्यो रोमकूपेभ्यः स्वेदधारा अजायन्त। तासु स्वेदजातासु अप्सु स्वां छायां पश्यन्तो रेतश्चस्कन्द। तद्रेतः-सहिता आपो द्विरूपा अभवन्। तत्रैकतः स्थितं रेतो भृज्ज्यमानं सत् भृगुर्नाम महर्षिरभवत्। स एव भृगुः स्वोत्पादकस्य तिरोहितस्य ब्रह्मणो दर्शनाय 'अथर्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छ' (गो० ब्रा० १।४) इति अशरीरया वाचोक्तत्वात् अथर्वाख्योऽप्यभवत्। अवशिष्टरेतोयुक्ताभिरद्भि-रावृतस्य वरुणशब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। सोऽङ्गरसभूतत्वात् अङ्गिरा नाम महर्षिरभवत्। ततस्तत्कारणं ब्रह्म तम् अथर्वाणम् अङ्गिरसं चाभ्यतपत्। ततः एकर्चद्वृचादिमन्त्रद्रष्टारो विंशति-संख्याका अथर्वाणोऽङ्गिरसश्चोत्पन्नाः। तेभ्यस्तप्तेभ्य ऋषिभ्यः सकाशात् स्वयंभु ब्रह्म यान् मन्त्रान् अद्राक्षीत् सोऽथर्वाङ्गिरःशब्दवाच्यो वेदोऽभवत्। अत एकर्चादीनाम् ऋषीणां विंशतिसंख्याकत्वाद् वेदोऽपि विंशतिकाण्डात्मकः सम्पन्नः। अत एव सर्वसारत्वाद् अयं वेदः श्रेष्ठः। श्रूयते हि——

'श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव' (गो० ब्रा० १।६) 'एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः। येऽथ-र्वाणस्तद् भेषजम्। यद् भेषजं तद् अमृतम्। यद् अमृतं तद् ब्रह्म' (गौ ब्रा० ३।४)। एवं सारभूतब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादनाच्च अयं ब्रह्मवेद इत्यप्याख्यायते। तथा चश्रुतिः। 'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो बह्मवेदः' [गो० ब्रा० २।१६] इति। अत एव सारवत्त्वात् सिद्ध मन्त्रता समाम्नायते——

न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥

तथा स्कान्दे कमलालयखण्डे आथर्वणमन्त्राणां जपमात्रेणाभिमतफल-साधनत्वमुक्तम्——

यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः।
तेषाम् अर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्॥

अथर्ववेदोपवेदनिरूपणं पुराणादिषु तत्प्रशंसा-वचनं च

अस्य वेदस्य सर्पवेदादयः पञ्चोपवेदा अङ्गत्वेन सम-नन्तरं ब्रह्मणा सृष्टाः। तथा च ब्राह्मणम्। 'स दिशो-ऽन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीम् उदीचीं ध्रुवाम् ऊर्ध्वाम्' इति प्रकम्य दक्षिणां 'पञ्च वेदान् निरमिमीत सर्पवेदम् पिशाच-वेदम् असुरवेदम् इतिहासवेदम् पुराणवेदम्' (गो० ब्रा० १।१०) इति। तदेवम् आमुष्मिकफलेषु दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु अपेक्षितं ब्रह्मत्वम् अनन्यलभ्यत्वाद् अथर्ववेदैकसमधिगम्यम् इति स्थितम्।

तद्वदेव ऐहिकफलानि शान्तिकपौष्टिकानि कर्माणि राजकर्माणि अपरिमित-फलानि तुलापुरुषादिमहादानानि च अथर्ववेद एव प्रतिपादितानि। पौरोहित्यं च अथर्वविदैव कार्यम् । तत्कर्तृकाणां कर्मणां राजाभिषेकादीनां तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादितत्वात् । तथा च विष्णुपुराणे—

'पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकादि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च' इति ।

भट्टाचार्यैरप्युक्तम्—

शान्तिपुष्टचभिचारार्था एकब्रह्मर्त्विगाश्रयाः ।
क्रियन्तेऽथर्ववेदेन त्रय्येवात्मीयगोचराः ॥

नीतिशास्त्रेऽपि—

त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात् पुरोहितः ।
अथर्वविहितं कर्म कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ॥

मत्स्यपुराणे—

पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम् ।

मार्कण्डेयपुराणे—

अभिषिक्ताऽथर्वमन्त्रैर्महीं भुङ्क्ते ससागराम् ।

अथर्वपरिशिष्टे—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम् ।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत् ॥ [प० ४।६] ।

स्याद् एवम् । यद्यस्य अर्थवत्त्वं स्यात् तदास्य व्याख्यानम् उपपन्नं स्यात् । तदेव कुत इति चेत् । उच्यते ।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' [तै० ब्रा० २ । १५] इत्यनेन विधिना कृत्स्नस्यापि वेदराशेः अर्थावबोधपर्यन्तं तस्य बोधितत्वात् ।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र शब्दभावनाया अर्थभावनायाश्च स्वरूपम्

तथा हि । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र विध्यविरुद्धा भावना प्रतीयते । स च द्विविधा । शब्दभावना अर्थभावना चेति । तद् उक्तम् आचार्यैः—'इह हि लिङादियुक्तेषु द्वे भावने प्रतीयेते । शब्दभावना अर्थभावना च' इति । तत्र शब्दभावनाया अर्थभावना भाव्या । लिङादि करणम् । अर्थवादप्रतिपादिता स्तुतिः इतिकर्तव्यता । अर्थभावनायाः स्वर्गादिर्भाव्यः । धात्वर्थः करणम् । प्रयाजादिः इतिकर्तव्यता ।

विविधमतोपन्यासपुरःसरं भावनायाः सामान्यलक्षणनिरूपणम्

ननु धात्वर्थातिरेकिणीं भावनामेव नोपलभामहे कस्या धात्वर्थः करणं स्यात्? कथं वा तस्या विभागः? भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावनेति चेत्? न। पचियजिगमिप्रभृतिषु धातुषु अधिश्रयणसंकल्पचलनादयो धात्वर्था एवेति अतिरिक्तस्य भावकव्यापारस्य अभावात्। प्रयत्नौ भावकव्यापार इति चेत्? न। वृक्षश्चलति, काष्ठानि पचन्ति, नौर्याति इत्येवमादिषु अचेतनकर्तृकव्यापारेषु तदभावात्। स्पन्दः स इति चेत्? न। आत्मकर्तृकव्यापारेषु यजतिददातिजुहोतीत्यादिषु तदभावात्। तर्हि उभयानुगतम् औदासीन्यप्रच्युतिसामान्यमेव भावकव्यापारो भविष्यतीति चेत्? न। अचेतने शब्दे स्पन्दप्रयत्नयोरभावेन तदुभयसामान्यरूपस्य तस्य अभावात्। सत्यम धात्वर्थाद् अत्यन्तातिरेकिणी भावना नास्तीति। धात्वर्थानामेव पाको यागः प्रयत्नः संकल्पः अधिश्रयणम् विक्लेदनम् अभिधानम् चोदनम् इति प्रातिस्विकं धात्वभिधेयम् अक्रियात्मकं सिद्धस्वभावम् एकं रूपम्। सर्वधात्वर्थानुगतं करोतिप्रत्ययवेद्यं क्रियात्मकं साध्यस्वभावम् अन्योत्पादनानुकूलात्मकम् आख्यातप्रत्ययवेद्यम् अपरं रूपम्। तथा हि। यः स्पन्दते यो यजते यश्चरति यो विदधाति ते सर्वे करोतिप्रत्ययमनुभवन्ति। स्पन्दते स्पन्दनं करोति, यजते यागं करोति, इत्येवं सर्वत्र करोत्यर्थस्यानुगतिः। तद् उक्तम् आचार्यैः––

सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्याप्रत्यये सति।
सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते॥ [मी० भा० वि० २।१।१]

भिन्नेषु विविधधात्वर्थेषु उत्पाद्यवस्त्वन्तरकर्मकम् एतदेवापरं रूपं भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वाद् भावनेत्युच्यते। तच्च यजेत दद्यात् जुहुयात् इत्याख्यातप्रयोगेष्वेव अवगमात् पाकः त्यागः रागः इत्यादिषु अनवगमाच्च अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आख्यातप्रत्ययाभिधेयम् अङ्गीक्रियते। यथाहुः––

अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते। [मी० भा०वि० २।१।१]

ये प्रयत्नं वा स्पन्दं वा उभयं वा भावनाम् अङ्गीकुर्वते, तैरपि तेषां सर्वत्रानुगमाभावात् सर्वधात्वर्थानुगतम् अन्योत्पादनानुकूलरूपमेव भावनेत्यङ्गीकर्तव्यम्। एतदप्युक्तम्––

सिद्धसाध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधो मतः।
अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी॥

तस्मात् धात्वर्थातिरेकिणी भावनेति सिद्धम्।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र विश्वजिन्न्यायेन स्वर्ग एव

तथा च अध्ययनविधावपि तव्यप्रत्ययावगताया भावनाया अंशत्रयेण भवितव्यम्। तत्र धात्वर्थः

अध्ययनविधेर्भाव्यः इति पूर्वः पक्षः

करणत्वेन अन्वेति। भाव्यापेक्षायाम् अत्र तस्मानुपात्तत्वात् 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्'[1] [जै० ४।३।१५] इति विश्वजिन्न्यायेन स्वर्ग एव भाव्यतया अन्वेतीति पूर्वः पक्षः। ननु कथं स्वर्गस्य भाव्यता? समनन्तरपदोपात्तस्य स्वाध्यायस्यैव भाव्यत्वाद् इति चेत्? न। तस्य अपुरुषार्थत्वेन भाव्यत्वासम्भवात्। तर्हि अर्थज्ञानमेव दृष्टप्रयोजनरूपत्वाद् भाव्यं भवत्विति चेत्? न। विधिमन्तरेणापि पदपदार्थव्युत्पत्तिमताम् अधीतेन स्वाध्यायेन अर्थज्ञानस्य जायमानत्वात्। तर्हि अधीतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयाद् इति अवघातादिवद् नियमार्थो विधिर्भवत्विति चेत्? न। अनारभ्याधीतस्य स्वाध्यायविधेः अक्रत्वर्थत्वेन नियमार्थत्वानुपपत्तेः। अवघातादयोऽपि क्रतावेव नियम्यन्ते अवघातनिष्पन्नैरेव ताण्डुलैः पुरोडाशादिनिष्पादनद्वारा दर्शपूर्णमासापूर्वं सम्पादयेदिति, न तण्डुलादिस्वरूपे। प्रमाणान्तरविरोधात्। मा भूत् स्वाध्यायस्य भाव्यता। मा च भूद् अर्थज्ञानस्य। तथापि 'यद् ऋचाऽधीते पयसः कूल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति। यद् यजूंषि घृतस्य कूल्या। यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्याः। यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदसः कूल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति' [तै० आ० २।१०] इत्यध्ययनं प्रकृत्य पठितार्थवादोक्तघृतकूल्यादिकमेव भाव्यं भवत्विति चेत्? न। तस्यापि ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायमधिकृत्य पठितत्वेन ग्रहणाध्ययनफलसमर्पकत्वानुपपत्तेः। तथापि अतिदेशतः प्राप्तेः अस्यापि फलं भविष्यतीति चेत्? न। अर्थवादस्य अनतिदेश्यत्वात् तस्माद् विश्वजिन्न्यायेन। स्वर्ग एव अध्ययनविधेर्भाव्यः। यथाहुः—

विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥

इष्टप्रयोजनोऽर्थावबोध एवाध्ययनविधेर्भाव्यः इति उत्तरः पक्षः

अत्रोच्यते। अर्थावबोधार्थमेव अध्ययनं विधीयते। ननु पदपदार्थव्युत्पत्तिमतां पुंसां विधिम् अन्तरेणापि अर्थावबोधो जायते इति विध्यानर्थक्यम् इत्युक्तम् इति चेत्? न। अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयात् न पुस्तकादिपठितेनेति नियमार्थत्वाद् विधेः। अक्रत्वर्थेषु नियमानुपपत्तिरिति उक्तम् इति चेत्? न। 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत' इत्येवमादिषु अक्रत्वर्थेष्वपि नियमदर्शनात्। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादिविधिवत् संस्कारविधानमात्रपर्यवसायित्वाद् अयं विधिर्न स्वाध्यायस्य

१. अस्य सूत्रस्य शाबरभाष्यं १०८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।

अर्थज्ञानार्थतां बोधयतीति चेत् ? न । 'चरुम् उपदधाति' [तै० सं० ५।६।२।५] इति चरोरुपधानविधिः संस्कारं विदधद् यथा तत्संस्कृतस्य चरोः स्थलनिष्पत्तिशेषतां विधत्ते, तद्वद् अध्ययनविधिरपि स्वाध्यायस्य अध्ययनसंस्कारं विद्धत् तत्संस्कृतस्य तस्य अर्थावबोधार्थत्वं विधत्ते। संस्कारविधेः संस्कारविनियोगपर्यन्तत्वेऽपि फलत्वाविशेषात् स्वर्गार्थिता कुतो न विधत्ते इति चेत् ? न। अर्थावबोधस्य दृष्टप्रयोजनस्य संभवे अदृष्टार्थत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तद् उक्तम्—

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना ।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति ।।

स्वाध्यायाध्ययनविधिविचारे प्राभाकरमतं सविस्तरमुपन्यस्य तस्य सप्रमाणं खण्डनम्

प्राभाकरास्तु—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।
[म० स्मृ० २।१४०]

इति स्मृत्यनुमितेन 'उपनीयाध्यापनेनाचार्यकं संपादयेद्' इत्यनेन विधिना लब्धानुष्ठानस्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यस्याध्ययनविधेः अधिकारपरत्वजिज्ञासायां प्रथमप्रतीतेन आचार्यकाधिकारकत्वमाशङ्क्य अन्तरङ्गत्वाद् अर्थज्ञानाधिकारपरत्वमेव वर्णयन्ति ।।

तद् अयुक्तम् । आचार्यकरणविधेरेव अभावात् । ननूक्तम् । 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इत्यनया स्मृत्या 'उपनीयाध्यापनेन आचार्यकं भावयेद्', इत्येवंरूप आचार्यकरणविधिरनुमीयते इति । तन्न । एवंरूपायाः श्रुतेः अनेवंरूपया स्मृत्या अनुमातुम् अशक्यत्वात् । तथा हि । इयं स्मृतिः उपनीयाध्यापयिता आचार्य इति ब्रवीति । न पुनरध्यापनं विदधाति । तद्विधाने योऽध्यापयिता 'तम् आचार्यं प्रचक्षते' इत्यंशेन एकवाक्यताविरोधात् । ननु 'उपनीयाध्यापयेद्' इति अध्यापनं विधाय विधिसिद्धमर्थं 'यस्तु' इति अनूद्य तस्याचार्यत्वं प्रतिपादयतीति चेत् ? न । स्वारस्येन विध्यप्रतीतौ तदाश्रयणेन वाक्यभेदकल्पनायां प्रमाणाभावात् । तद् उक्तम्—

संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते ।

किं च । 'योऽध्यापयेत्' इति यच्छब्दयोगोऽपि विधिशक्तिम् अपहन्ति । तर्हि 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' [तै० सं० २।६।३।३] इत्यादावपि यच्छब्दयोगात् विधिशक्तिरपहन्यते इति चेत् सत्यम् । तत्रापि यच्छब्दवृत्तस्य विधित्वभङ्गेन 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै' [तै० सं० २।६।३।३] इत्यर्थवादेन 'यत् स्तूयते तद् विधीयते' इति न्यायेन परिकल्पितस्य अन्यस्यैव विधित्वस्वीकारात् । तस्माद् 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इत्यादिस्मृत्यनुमिता श्रुतिः नाचार्यकरणविधौ प्रमाणम् ।।

ननु 'अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत, तमध्यापयीत' इत्यत्र नयतेः 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' [पा० अष्टा० १।३।३६] इति आचार्यकरणे आत्मनेपदविधानाद् उपनयने आचार्यकरणविधिरपेक्षित एव इति चेत् ? तद् अयुक्तम् ।

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशिष्टाच्च प्रतिग्रहः ॥
[म० स्मृ० १०।७६]

इति द्रव्यार्जनाद्यर्थतयैव प्राप्तस्य अध्यापनस्य विध्यनर्हत्वात् । ननु तथापि अलौकिकाचार्यकसाधनत्वेन अप्राप्तस्याध्यापनस्य विध्यनर्हतेति चेत् ? न । आचार्यकस्य लोकप्रसिद्धत्वाद् अलौकिकत्वानुपपत्तेः । स्याद् एतत् । 'उपनयीत' इत्यात्मनेपदात् सनियमकोपनयनशेषित्वप्रतीतेः आचार्यकम् अलौकिकमिति, न । आचार्यकरणे वर्तमानस्य नयतेः अकर्त्रभिप्राये आत्मनेपदविधानाद् उपनयनाचार्यकयोः परस्परम् अङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । अन्यथा 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' [पा० अष्टा० १।३।७२] इति ञित्त्वादेव आत्मनेपदे सिद्धे सम्माननादिसूत्रम् अनर्थकं स्यात् ।

ननु क्रियाफलस्य कर्त्रभिप्रायत्वं नाम न कर्त्रभिलषितत्वं किं तु कर्तृगतत्वमेव । अतः उपनयनक्रियाफलस्य माणवकनिष्ठत्वेन अकर्त्रभिप्रायत्वाद् आचार्यकरण एव नयतेः आत्मनेपदं सिध्यतीति चेत् । एवं सति 'वसन्ता ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' [तै० ब्रा० १।१।२।६] इत्याधानफलस्य अग्निसंस्कारस्य अग्निगतत्वेन अकर्त्रभिप्रायत्वाद् 'स्वरितञितः' इत्यात्मनेपदं न स्यात् । न च उपनयनक्रियाफलस्य संस्कारस्य माणवकाभिलाषितत्वाद् अकर्त्रभिप्रायत्वम् इति । आचार्यस्यापि अभिलषितम् । आचार्यानभिलषितत्वे तस्य क्रियाफलत्वानुपपत्तेः । न हि क्रियाजन्यं यस्य कस्यचिद् अभिलषितं वा क्रियाफलं, किं तु कर्त्रभिलाषितं सत् क्रियाजन्यं क्रियाफलम् । अन्यथा श्रमादिकमपि क्रियाजन्यम् अहितस्य यस्य कस्यचिद् अभिलषितं चेति 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ क्रियाफलस्य अकर्त्रभिप्रायत्वेन आत्मनेपदं न स्यात् । न च अस्मत्पक्ष इव माणवकसमीहितसाधनत्वेनैव उपनेतुः उपनयनक्रियाफलम् अभिलषितम् इति भवतां मतं येन क्रियाफलम् अकर्त्रभिप्रायं स्यात् । आचार्यककामस्य अतत्साधने माणवकाधिकारे समीहानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा माणवकाधिकारस्यैव अभिलषितस्य प्रयोजकत्वाद् आचार्यकाधिकारस्य प्रयोजकत्वं न स्यात् । तस्माद् आत्मनेपदादेव क्रियाफलस्य अकर्त्रभिप्रायत्वावगतेर्माणवकसमीहितसाधनत्वेनैव उपनयनस्य प्रतीतिः ।

न च 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्' इति क्त्वाप्रत्ययेन आचार्यकशेषत्वम् उपनयनस्येति मन्तव्यम्। स्मृतिगतो हि क्त्वाप्रत्ययः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' [पा० अष्टा ३।४।२१] इत्यनुशासनाद् उपनयनाध्यापनयोः समानकर्तृकत्वमेव आचष्टे। तच्च अङ्गाङ्गिभावेनैव उपपद्यत इति उपनयनस्य अध्यापनाङ्गत्वप्रतीतिर्विलम्बेन भवति। 'वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत' [आप० ध० १।१।१।१६] इति द्वितीयाश्रुतिः प्रत्यक्षश्रुतिगता। तया द्वितीयाश्रुत्या झटिति उपनयनस्य उपनेयशेषत्वं प्रतीयते। 'श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिरेव बलीयसी' इत्युपनयनस्य उपनेयशेषत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम् ॥

ननु उपनयनम् उपनेयशेषोऽस्तु। तथापि उपनेयस्य आचार्यकशेषत्वात् तद्द्वारा उपनयनस्यापि तदङ्गत्वम् इति चेत् ? न। उपनेयसंस्कारस्य आचार्यकशेषत्वे उपनेयशेषत्वं च सप्रयोजनत्वाविशेषेऽपि पुरुषान्तरगतत्वेन आचार्यकस्य बहिरङ्गत्वात् एकपुरुषनिष्ठत्वेन अध्ययनस्यान्तरङ्गत्वात् 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः' इति तस्य अध्ययनाङ्गत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम्। यदि समानकर्तृकेति विहितस्मार्तक्त्वाप्रत्ययबलादेव अन्तरङ्गत्वं बाध्येत तर्हि भवत्पक्षे अध्यापनविधिप्रयुक्तस्य अध्ययनविधेः किमधिकारपरत्वम् इति जिज्ञासायाम् 'अधीत्य स्नायाद्' इति स्मार्तक्त्वाप्रत्ययानुरोधेन अन्तरङ्गत्वयुक्तेर्बाधात् अन्तरङ्गार्थज्ञानपरत्वं परित्यज्य आचार्याधिकारत्वमेव स्यात्। तस्माद् अकर्त्रभिप्रायविहितात्मनेपदबलाद् अन्तरङ्गयुक्तेश्च उपनयनम् अध्ययनाङ्गम् इत्याचार्यकस्य सनियमकोपनयनशेषित्वाभावाद् नास्य अलौकिकत्वसिद्धिः। तदसिद्धौ च अन्यतः प्राप्तस्य अध्यापनस्य आचार्यकशेषत्वेन विध्यसिद्धिः ॥

कथं तर्हि 'अध्यापयीत' इति विधिः ? 'एतयान्नाद्यकामं याजयेत्' इतिवत् प्रयोजकव्यापारान्तर्गतोऽपि विधिः प्रयोज्यव्यापारपरः इति ब्रूमः। ननु तत्र कामश्रुतिबलात् कामिन एव विध्यपेक्षायां प्रयोज्यव्यापारपरत्वम् अस्तु। अत्र तु तदभावात् तत्परत्वं नेति चेत् ? न। 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्यत्र कामश्रुतेरभावेऽपि द्रव्यार्जनार्थत्वेन अन्यतः प्राप्तं याजनं परित्यज्य प्रयोज्यव्यापारस्यैव अप्राप्तस्य विधेयत्वस्वीकारात्। एतेन

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेद् एनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ [या० स्मृ० १।१५]

इत्येतदपि नाध्यापनविधिपरम् इत्यवगन्तव्यम्।

उपनीय ददद् वेदम् आचार्यः स उदाहृतः [या० स्मृ० १।३४]

इत्येतदपि क्रियायोगमेव आचार्यशब्दाभिधेयम् इति व्युक्तमुपदर्शयति।

तस्माद् अध्यापनस्य विधिरेव नास्तीति सिद्धम्। तदभावेन स्वविधिप्रयुक्तत्वैव अध्ययनस्य। स च अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन अर्थ

जानीयाद् इति विधत्ते कृत्स्नस्यापि वेदराशेर्विवक्षितार्थत्वेन स्वतः प्रामाण्यात् तदन्तर्गतस्य व्याख्यानं कर्तुं युक्तमेवेति सिद्धम् ॥

वेदस्य स्वतः प्रामाण्यमिति सिद्धान्तविषयेऽभियुक्तानां विविधा विप्रतिपत्तयः

वेदस्य स्वतः प्रामाण्यं चोदनासूत्रे आचार्यैरेव उपपादितम्[1] । तत्र बहुधा विवदन्ते वादिनः[2] । प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं च उभयं स्वत इति सांख्याः उभयं परत इति तार्किकाः । प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परत इति मीमांसकाः । अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परतः इति सौगताः ॥

प्रामाण्यमप्रामाण्यं चोभयं स्वत इति साङ्ख्यानां मतम्

प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं नाम कार्यकारणादेव कार्येण सह उत्पत्तिः । अत्र सांख्या एवं प्रतिपादयन्ति । स्वतः असताम् असाध्यत्वाद् उभयं स्वत इति । तत्र प्रमाणं च यद् असत् तन्न क्रियते, यथा शशविषाणम् । कारकव्यापारात् पूर्वं कार्यम् असच्चेत् तर्हि न [क्रियेत] क्रियते च । अतः सदेव पूर्वमपि । अपि च कार्यं कारणेन प्राक् सम्बद्धम् असम्बद्धं वा । सम्बद्धं चेद् असतः सम्बन्धानुपपत्तेः प्रागपि सदेव कार्यम् । असम्बद्धं चेत् ? इदमेवास्य कारणम् इदमेवास्य कार्यम् इति नियमो न स्यात् असत्ताऽसम्बन्धयोरविशेषात् । यथाहुः—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥

किं च कारणाद् अभिन्नत्वात् कार्यस्य प्रागसत्त्वं नोपपद्यते । तथा हि तन्तुभ्यः पटो न भिद्यते तत्कार्यत्वात् । यद् यतो भिद्यते न तत् तस्य कार्यम् । यथा गौरश्वस्य । तन्तुकार्यं पटः । तस्मात् तन्तोर्न भिद्यते । यद् यतो भिद्यते तस्य तेन सह संयोगः अप्राप्तिर्वा स्यात् । यथा कुण्डबदरयोर्मेरुविन्ध्ययोर्वा । न हि पटस्य तन्तुभिः सह तद् उभयम् अस्ति । तस्माद् न तन्तुभ्यो भिद्यते पट इत्यभेदसिद्धेः कार्यं प्रागपि सदेव इति सिद्धम् ॥

---

१. तथाहि श्लोकवार्तिके भट्टकुमारिलपादैः प्रतिपादितम्—

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रमाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥ (श्लो. वा. (१।२।४७)

२. प्रामाण्याप्रामाण्यसिद्धान्तविषये अयमत्र विविधविधमतसंक्षेपः प्रदर्शितो जैमिनिदर्शननिरूपणप्रसङ्गे 'सर्वदर्शनसंग्रहकारेण'—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः ।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥

पूर्वोक्तस्य सांख्यमतस्य समीक्षा

अत्र ब्रूमः। न च क्रियमाणत्वं सत्त्वसाधनम् असत्त्वेऽपि तस्योपपत्तेर्हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः सन्दिग्धत्वात्। तथा हि। न हि सतो घटादेः क्रियमाणत्वं दृष्टम् कृतकरणव्यापारानुपपत्तेः। नाप्यसतः क्रियमाणत्वम् अनुपपन्नम् इति। प्रागसतोऽपि घटादेः सामग्र्यां सत्याम् उत्पत्तिदर्शनात्। यदप्युक्तम् कारणेन असम्बद्धस्य कार्यस्योत्पत्तौ इदमेवास्य कार्यम् इदमेवास्य कारणम् इति नियमानुपपत्तिरिति तदप्यपेशलम्। किंचिदेव कारणं कस्मिंश्चिदेव कार्ये शक्तम् इति शक्तितो नियमेन सिद्धेः। न च शक्यव्यतिरेकेण शक्तिरेव नास्तीति वक्तव्यम्। अयम् अग्निः अद्विष्ठातीन्द्रियाश्रयः कारणत्वाद् गुरुत्वाश्रयवदिति तत्सिद्धेः।

नापि शक्तिरपि शक्येन असम्बद्धा न कार्यकारणभावस्य नियामिकेति वाच्यम्। शक्ताश्रयायाः शक्तेश्च प्रतिनियतशक्यानुकूलस्वभावत्वात्। अन्यथा सत्कार्यवादपक्षेऽपि प्रधानोपादानत्वस्वीकारात् सर्वस्य जगतः सर्वं सर्वस्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा सदिति विवेकहेतोरभावात् इदमेवास्य कार्यम् इदमेवास्य कारणम् इति नियमो न स्यात्। ननु सर्वत्र, सर्वदा कार्यस्य सत्त्वाविशेषेऽपि तत्तदभिव्यञ्जकसामर्थ्यनियमात् तत्तदभिव्यक्तिनियमो भविष्यतीति चेत्? एवं तर्हि अस्मत्पक्षेऽपि तत्तदुत्पादककारणसामर्थ्यनियमात् तत्तदसत्कार्योत्पत्तिनियमसिद्धिः॥

यत् पुनः कार्यस्य कारणाद् अभेदसाधकम् अनुमानम्, तदपि तन्तुपटयोः प्रत्यक्षेण भेदोपलम्भात् प्रत्यक्षविरुद्धकालात्ययापदिष्टम्। अपि च कारकव्यापारात् प्रागपि कारणे कार्यं सत् स्यात्, तर्हि कारणे कार्यम् उपलभ्येत। न चोपलभ्यते। तस्माद् असदेव। प्रागपि सदेव कार्यम् अभिव्यक्तेरभावाद् नोपलभ्यत इति चेत्? न। किम् इयम् अभिव्यक्तिः प्रागपि सती उत असती। सती चेत्? प्रागपि केवलतन्तुष्वपि तथा पटस्योपलब्धिः स्यात्। असती चेद्? असत्या एव तस्याः पश्चादुत्पत्तिस्वीकारात् तद्वत् सर्वस्याप्यसतः कार्यस्योपपत्तिः किं नाङ्गीक्रियते। क्रियेत इत्यलमतिप्रसङ्गेन। तस्मात् सत्कार्यनिषेधात् प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोरपि स्वतस्त्वे किंचिदेव प्रमाणं प्रमाणमिति व्यवस्थोपपत्तेश्च नोभयं स्वतः॥

'अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परतः' इति सौगतमतोपन्यासः

अपि तु अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परत इति अपरे मन्यते। तथा हि। यदि प्रामाण्यं स्वतोऽवसीयेत, तर्हि एकतरकोटिनिर्धारणात् इदं प्रमाणम् अप्रमाणं वेति न संदिह्येत। अन्यथा सर्वत्र संदेहस्योपरमो न स्यात्। अतः कारणगुणज्ञानाद् अर्थक्रियासंवादाद् वा प्रामाण्यनिश्चयः॥

ननु आदावेव अर्थतथात्वानिश्चये उत्तरकालीना प्रकथं वृत्तिः

जाधटीति तदुत्तरकालीनस्तन्निश्चयो वा कथम् तदभावे कथं प्रामाण्यनिश्चयः इति चेत्? न कृष्यादाविव अर्थसंदेहादपि प्रवृत्त्युपपत्तेः। प्रवृत्तस्य च अर्थक्रियोपलब्धौ पूर्वावगतस्य अर्थक्रियाकारित्वं सत्यं निश्चीयते इति तद्विषयस्य पूर्वज्ञानस्यापि तदर्थसम्बन्धित्वेन पश्चात् प्रामाण्यं निश्चीयते। यथोक्तम्—

तस्मिन् सदपि मानत्वं विनिश्चेतुं न शक्यते।
उत्तरार्थक्रियाज्ञानात् केवलं तत् प्रतीयते ॥

नैवम् अर्थक्रियाऽज्ञानस्यापि स्वविषयार्थक्रियापरिनिश्चये परापेक्षा येन अनवस्था भवेत्। तस्य फलरूपत्वात्। फलार्थं वा सर्वं करिष्यते। न फलम् अन्यार्थमिति। अतः स्फुटाविकल्परूपत्वाच्च अर्थक्रियाज्ञानं स्वत एव स्वविषयतथात्वावधारकं प्रमाणं च। न चैवं प्रामाण्यावगतस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वात् प्रवृत्त्युत्तरकालम्, अर्थक्रियानिर्णयो निष्फल इति वाच्यम् ज्ञानान्तरेषु निःशङ्कप्रवृत्त्यर्थं विसंवादिज्ञानव्यावृत्तप्रमाणप्रतियन्धरूपविशेषाकलनाय प्रवृत्त्युत्तरकालमपि निर्णयस्योपयोगात्। प्रवृत्तावभ्यासवत्याम् आद्यज्ञाने फलस्याप्रतीतावपि अर्थक्रियारूपं फलमिति विषयीकुर्वतो विज्ञानान्तराद् विसम्वादिभ्यो व्यावृत्तं वैलक्षण्यं प्रतीयते। यथोक्तम्—

वृत्तावभ्यासवत्यां तु वैलक्षण्यं प्रतीयते।
अतद्विषयविज्ञानाद् आद्येऽप्राप्तेऽपि तत्फले ॥

तस्मात् झटिति निऽशङ्कप्रवृत्तिरपि तत्र विसम्वादिव्यावृत्तप्रमाणप्रतिवन्धरूपविशेषलिङ्गकाद् अनुमानादेवेति न स्वतः प्रामाण्यावगमः ॥

अनुरूपोपपत्तिभिः पूर्वोक्तस्य सौगतमतस्य निरासः अत्राभिधीयते। वृत्तेः प्रामाण्यम् अर्थयाथार्थ्यनिश्चयाद् भवतु। तन्निश्चयस्तु गुणज्ञानात् संवादाद् वा इति यद् उक्तं तन्न मृष्यामहे। प्रमितिसाधकतमत्वं हि प्रामाण्यम्। प्रमितिश्च अनधिगततथाभूतार्थावधारणम्। नान्वेवम् इन्द्रियादेरेव प्रामाण्यम्, न ज्ञानस्य। तस्यावधारणरूपत्वेन अवधारणान्तरसाधकतमत्वानुपपत्तेरिति चेत्? न। द्विविधं हि अवधारणम् ज्ञानरूपं प्राकटचरूपं चेति। तत्र अनधिगततथाभूतार्थगोचरत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यम्। तथा च अनधिगततथाभूतार्थावधारणं प्रमितिः। तत्साधनं ज्ञानं प्रमाणम्। तद्भावः प्रामाण्यमिति नाशब्दार्थत्वम्। अतः प्रमितिलक्षणवाक्यगतावधारणशब्देन ज्ञानप्राकट्ययोः कार्यकारणभावेन अदूरविप्रकृष्टयोरेकरूपप्रामाण्यव्युत्पत्त्यर्थं तन्त्रेणोपादानम्। शक्ती च प्रमाणाप्रमाणगोचरे प्रामाण्यप्रामाण्ये। ते च तथाभूतोऽयम् अर्थ इत्येवंरूपात् तथात्वावधारणाद अतथाभूतोऽयमर्थ इत्येवंरूपाद् अतथात्ववधारणाच्च चकास्तः। तत्र तथा-

भूतार्थावधारणम् अर्थक्रिया ज्ञानादिलक्षणपरानपेक्षत्वेन ज्ञानस्वरूपमात्राधीनम्। तदवसेयं प्रामाण्यं स्वतोऽवसीयत इत्युच्यते तथाभूतावधारणं तु ज्ञानस्वरूपमात्राधीनत्वेऽपि कारणदोषावगमादिलक्षणपरापेक्षम् इति तदवसेयम् अप्रामाण्यं परतोऽवसीयत इत्युच्यते। न च अतथाभूतावधारणमपि ज्ञानस्वभावाधीनम्। भ्रमबाधयोरसंभवप्रसङ्गात्। न हि शुक्तौ रजतम् अतथाभूतमिति गोचरयतो ज्ञानस्य भ्रमत्वं बाधसम्भवो वा। तस्मात् ज्ञानस्वभावाधीनमपि अतथाभूतत्वं कारणदोषावगमाद् बाधकप्रत्ययाद् वा परत एव निश्चीयते इति अप्रामाण्यं परत एवेति सिद्धम्॥

अप्रामाण्यं चोभयमपि परत एवेति वदतां तार्किकाणां मतप्रतिपादनम्

अपरे पुनः एतदप्यसहमाना अप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि कारणगतगुणज्ञानात् सम्बादाद् वा परत एव ज्ञायत वर्णयन्ति साधयन्ति च। तथा हि। प्रामाण्यं परतो ज्ञायते। अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यदिति। नैतत् साधनम्। अस्मन्मतेऽपि तथाभूतोऽयम् अर्थ इत्येवंरूपावधारणात् परत एव प्रामाण्यं निश्चीयत इति सिद्धसाधनत्वात्। ननु ज्ञप्तावनपेक्षत्वेऽपि उत्पत्तौ परापेक्षास्ति। तथा हि। यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि प्रमाणपरिज्ञानम् अप्रमाणं भवेत् प्रामाण्ये कारणाभावात्। तथा च सति ज्ञानमेव न स्याद् घटादिवत्। ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यकारणत्वात् सति च दोषे तदभावाद् नातिप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि दोषाभावम् अधिकम् आसाद्य प्रामाण्यमपि जायते इति कथं ज्ञानहेतुमात्रजन्यत्वं तस्य। ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यहेतुत्वेऽपि गुणस्य प्रामाण्यं प्रति अहेतुत्वात् तद्भावेन वेदानां स्वतः–प्रामाण्यं सिध्यतीति चेत् तर्हि गुणस्य प्रामाण्यहेतुत्वेन दोषाभावस्य तदहेतुत्वात् तद्भावेऽपि गुणाभावाद् अप्रामाण्यमपि वेदानां प्रसज्येत। न हि गुणदोषयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये प्रति अन्वयव्यतिरेकयोर्विशेषम् उपलभामहे। तस्माद् उभयमपि परत इति सिद्धम्॥

तार्किकमतनिरसनपुरःसरं 'प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं च परतः' इति मीमांसकमूर्धन्यानां सिद्धान्तनिर्णयः

अत्राभिधीयते। कार्यशक्तेः असति बाधके कार्यकारणादेव कार्येण सह उत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या। अन्यथा वह्निगताया दाहकत्वशक्तेरपि कारणान्तरादेव उत्पत्तिः स्यात्। तथा च उत्पत्तिक्षणे तस्य दाहकत्वं न स्यात्। वह्निश्च स्वाश्रयं दहन्नेव जायते। तत् सिद्धम् एतत् स्वत एव च प्रामाण्यमिति। न च अप्रामाण्यमपि स्वत एवास्त्विति मन्तव्यम्। यस्य दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन ज्ञानहेतुमात्रजन्यत्वाभावात्। स्याद् एतत्। यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं

भवेत्, तर्हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात् । तद् न । प्रामाण्यशब्देन तथाभूतार्थविधारकशक्तेरेव विवक्षितत्वात् तस्या एव च ज्ञानहेतुमात्रशब्दाधीनत्वसमर्थनात् । अन्यथा नैयायिकमतेऽपि अप्रामाण्यस्य दोषाधीनत्वात् तदभावे स्मृतावपि प्रामाण्यसम्भवप्रसङ्गात् ।

यत् पुनः प्रमाज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात् अप्रमावत् इत्यनुमानम् । तद् असाधकम् । प्रमा गुणदोषयोरन्यतराधीना न भवति ज्ञानत्वात् अप्रमावत्, इत्यनेन अनुमानेन निर्विशेषणहेतुजत्वेन शीघ्रप्रवृत्तेन विशेषविषयत्वेन च प्रवलेन बाधितविषयत्वात् । तस्य च सविशेषणहेतुजत्वेन विलम्बितप्रवृत्तत्वाद् दौर्बल्यम् । तस्माद् उत्पत्तावपि ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वेन प्रामाण्यं स्वत एव । अप्रामाण्यं तु दोषाधीनत्वात् परत इति सिद्धम् ॥

ततश्च वेदानामपि अपौरुषेयत्वेन शब्दगतगुणदोषाणां शङ्कितुमपि अशक्यत्वेन सुतरां स्वत एव प्रामाण्यमिति निरवद्यम् ॥

वेदनिरूपणावसरे 'पौरुषेया वेदा' इति पूर्वः पक्षः

स्याद् एवं यदि वेदनाम् अपौरुषेयत्वं भवेत् । तदेव असिद्धम् । तथा हि वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् । यद् उक्तसाधनं तद् उक्तसाध्यम् । यथा भारतादिवाक्यम् । उक्तसाधनानि च वेदवाक्यानि । तस्मात् पौरुषेयाणि वेदवाक्यानि । पौरुषेयत्वं नाम स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वम् अभिमतम् । अतः क्रमवन्तो वर्णाः पदम् । क्रमवन्ति च पदानि वाक्यम् । क्रमश्च नित्यवर्णेषु स्वत एवासम्भवात् उच्चारणक्रमनिबन्धन एव । उच्चारणक्रमश्च पुरुषप्रयत्नसाध्य एवेति वेदवाक्यान्यपि क्रमवत्त्वेन पुरुषप्रयत्ननिष्पाद्यान्येवेति सिद्धसाध्यत्वं वदताम् अनवकाश एव । ननु किमत्र साक्षात्स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं विवक्षितम् आहोस्वित् परम्परया ? नाऽऽद्यः । इदानीम् उच्चार्यमाणेषु बाधितविषयत्वात् अनुवक्तृप्रणीतास्मदादिवाक्येषु अनैकान्तिकत्वाच्च । नापि द्वितीयः । साक्षात्स्वतन्त्रपुरुषप्रणतेषु अस्मदादिवाक्येषु अनैकान्तिकत्वादिति चेत् ? मैवम् । साक्षात्परम्परात्वयोः परस्परव्यभिचारेऽपि साक्षात्परम्परात्वयोरन्यतरस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । अन्यथा भारतादिवाक्यान्यपि यानि कृष्णद्वैपायनादिना साक्षात् प्रणीतानि न तानि परम्परया, यानि परम्परया न तानि साक्षात् इति उभयानुगतपौरुषेयत्वाभावेन अन्यतरस्य अपौरुषेयत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् यद् वाक्यं तत् साक्षात् परम्परया वा स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकम् इति साधयतां न क्वचिद् बोधो न व्यभिचारश्चेति सिद्धं वेदाः पौरुषेया इति ।

पूर्वमतनिरसनपूर्वकं 'अपौरुषेया वेदाः' इति मीमांसकानां प्रबलतरयुक्तिभिरुपोद्बलितः उत्तरः पक्षः

तद् इदम् असमञ्जसम्। तथा हि सर्वत्र वाक्येषु वृद्धव्यवहारावगतपदपदार्थसम्बन्धस्य चक्षुरादिजन्यतत्तत्पदार्थविशेषविषयपरस्परविलक्षणक्षणिकज्ञानवतः शरीरिण एव स्वतन्त्रकर्तृत्वं दृष्टमिति वाक्यत्वं तादृशकर्तृत्वेन व्याप्तं सत् स्वव्यापकं पक्षे साधयत् स्वाभिमतम्, अशरीरिकर्तृकत्वं विरुणद्धीति विशेषविरुद्धत्वात् हेतोः। न चास्योत्तरस्य उत्कर्षसमायाम् अन्तर्भावः। सर्वत्र वाक्यत्वस्य हेतोः शरीरिकर्तृकत्वेन व्याप्ततया दृष्टत्वात्॥

स्याद् एतत्। अस्तु तर्हि अत्रापि अनित्यज्ञानेच्छादिमतः शरीरिण एव कर्तृत्वम्। न च योग्यानुपलब्धिबाधः चिरवृत्ते कर्तरि उपलब्धियोग्यत्वस्यैव अभावात्। एतदपि न चतुरचेतसां चेतसि चमत्कारं प्राश्नुति। अपसिद्धान्तापातात्। किं च यदि वेदवाक्यानां शरीरी कर्ता स्यात् तस्य चिरवृत्तत्वेन उपलब्ध्यभावेऽपि असौ स्मृतिपथमवतरेत्। न च स्मर्यते। तस्मान्नास्त्येव कर्तेति निश्चीयते॥

स्याद् एतत्। केनचिद् अस्मरणं वा हेतुः आहोस्वित् सर्वैरस्मरणम्। नाऽऽद्यः। देवदत्तेन अस्मृतस्यापि घटस्य विष्णुमित्रगृहे विद्यमानत्वात्। नापि द्वितीयः। जैमिनीयैरस्मरणेऽपि कणादाक्षचरणपक्षिलमुनिपक्षपातिभिः स्मर्यमाणत्वाद् इति न। तदीयैरपि वृद्धव्यवहारावगतपदपदार्थसम्बन्धस्य तदर्थविषयविलक्षणक्षणिकचक्षुरादिजन्यवेदनस्य मातापितृसम्बन्धप्रसूतपार्थिवशरीरस्य कर्तुरस्मरणात्। तदेवं वेदवाक्येषु यादृशस्य स्वतन्त्रपुरुषस्य ते स्मरन्ति तादृशस्य वाक्यत्वम् अस्मत्परिपन्थित्वेन न विरोधकम्। जैमिनीयैस्तु सर्वैः स्मर्तुं योग्यस्यापि अस्मरणाद् योग्यस्मृत्यनुदय एव बाधक इति वाक्यत्वं हेतुः विरुद्धसमस्तसविशेषत्वेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वमपि साधयितुम् असमर्थ इति सिद्धो विशेषविरोधस्तस्य। स्याद् एतत्।

"अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः'।

'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्'

[ऐ० ब्रा० ५।३२]।

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत'॥ (ऋ० १०।९०।९)

इत्यादयो वेदकारणवादा वेदस्य पौरुषेयत्वे प्रमाणमिति। तद् अयुक्तम्। तेषां परस्परविरुद्धार्थतया प्रमाणान्तरप्रतिहततया च 'प्रजापतिरात्मनो वपाम् उदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४) इत्यादिवत् अर्थवादत्वेनापि उपपत्तेः स्वार्थे तात्पर्याभावात् काठकादिसमाख्यापि प्रवचननिबन्धनैव भविष्यति इति सिद्धं वेदानाम् अपौरुषेयत्वम्॥

शब्दस्यानित्यत्वविषयकं तार्किकमतमुपक्षिप्य तस्य मीमांसक-मतेन नित्यत्व-सिद्धिः

अत एव च नित्यत्वम्। नन्वित्यत्वम् असहमानाः शुष्कतार्किका वैदिकान् प्रति विवदन्ते प्रयुञ्जते च शब्दानित्यत्वेऽमानम्। शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, यत् कृतकं तद् अनित्यं दृष्टम्, यथा घटः तथा चायं कृतकः। तस्माद् अनित्य एवेति। एतद् अधीरम्। एतच्च पर्वतादौ धर्मिणि प्रर यथा वह्न्याद्यनुमानं तादृशं तार्किकैरङ्गीकरणीयम्। ततश्च एतदनुमानबलादेव शब्दस्य नित्यत्व-सिद्धिः। तथा हि। अणवोऽनित्याः मूर्तत्वात् घटवत् इत्यनुमाने यथा धर्मि-ग्राहकप्रमाणबाधो दोषः तथा शब्दकृतकत्वानुमानेऽपि। तथा हि। शब्दः कथं प्रत्यक्षो देवानां प्रियस्य यो धर्मी। कृतस्य अनित्यत्वान्नित्यत्वशून्य इति चेत्? तर्हि वक्तव्यं किं धर्मद्वयस्य अभाववान् उत उद्भाववान्। उभ-यथापि बाधः अन्यथा प्रत्यक्षम् अर्थम् अन्यथा साधयतः। ननु वादिबुद्धि-विशेषाद् धर्मद्वयम् आपतति न तु वस्तुविशेषात्। वस्तुनि द्वैरूप्या-योगात्। ततश्च यस्मिन् वादिविप्रतिपत्तौ सत्यां धर्मद्वयम् आपतति स शब्दः पक्ष इत्यङ्गीकारे कथं बाधः। एवम् अनङ्गीकारे सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः॥

अस्त्वेवम् अन्यत्र। शब्दे तु वैषम्यम् अस्ति। शब्दः किं धर्मित्वेन प्रतीतः प्रत्यक्षव्याप्तिपक्षधर्मतयोराश्रयः उत्पत्तितः उत्तरक्षणेषु स एव तिष्ठति वा, न वा। यदि न तिष्ठति, आश्रयसिद्ध्यादिदोषः। यदि तिष्ठति, तर्हि अनेकक्षणावस्थायित्वात् क्षणिकत्वभङ्गः। अथ च शब्दत्वजातिमान् शब्दस्तिष्ठतीति चेत्? तत्रापि विचारयत्वायुष्मान्। किं जातिस्तिष्ठति? उत व्यक्तिरपि? यदि जातिस्तिष्ठति व्यधिकरणासिद्ध्यादिदोषः। न हि शब्दत्वजातिः पक्ष इति भवद्भिरेवोक्तम्। अनित्यव्यक्तेश्चावस्थाने पूर्वोक्त-दोषावकाशः। अथ च काचन व्यक्तिस्तिष्ठति। तदापि शब्दव्यक्तीनां धर्मित्वाङ्गीकाराद् भागासिद्धो हेतुः। न हि भविष्यच्छब्दः इदानीं वर्तमानस्य कृतकत्वस्य हेतोराश्रयो भवति। कृतकत्वं नाम करणव्यापार-विषयत्वम्। तच्च कालत्रयासंस्पृष्टं सर्वशब्देषु वर्तते इति हेतोर्न भागा-सिद्धिरिति चेत्। अहो पाण्डित्यं तार्किकस्य। यत्र कालत्रयसंस्पृष्टशब्द-बुद्धिः स्वयं कालत्रयातीतं प्रत्यक्षीकृतवान् इति। ततः प्रत्यक्षाभावेऽनु-मानमपि दूरापास्तम्। ततः अस्मिन्ननुमाने पर्वतादिवत् स्थायी वर्तमानः शब्दः पक्षत्वेनाङ्गीकरणीयः। तस्य धर्मिणः अनित्यत्वसिद्धौ अपरेषां भवि-ष्यदादिशब्दानामपि शब्दत्वेन हेतुना अनित्यत्वं साधनीयम्। एवं च महीमहीधरादिकृतकत्वानुमानवत् शब्दकृतकत्वानुमानमपि परास्तं वेदि-तव्यम्। शब्दग्राहि च प्रमाणं तं कृतकत्वशून्यमेव गृह्णातीति मही-महीधरवत् इति धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्त्वदुक्तो हेतुः अन्यतरासिद्धश्च।

तस्मान्नित्यः शब्दः ॥

सोऽपि स्फोट इति शाब्दिकाः शब्दायन्ते। तत्रेमां श्रुतिं प्रमाणयन्ति।

शब्दब्रह्म यदेकं यच्चैतन्यं च सर्वभूतानाम् ।
यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलम् इदं जयति सा वाणी ॥

'स्फोट एव नित्यः शब्दः' इति शाब्दिकानां मतोपन्यासः

अस्य अयम् अर्थः । शब्द एव ब्रह्म । तद् एकम् एकं च स्फोटव्यतिरिक्तम् अन्यन्न संभवति । वर्णानाम् अनेकत्वात् । अत एव न ध्वनयोऽपि । पदवाक्ययोरेकत्वशङ्कापि नास्त्येव वर्णैर्विरचितत्वात् तेषाम् । ध्वनिवर्णपदवाक्येभ्यो वा नान्यः शब्दः प्रसिद्धोऽस्ति लोकवेदयोः । शब्दब्रह्मेति पठन्ति लौकिका वैदिकाश्च पदज्ञा अपि एवम् आहुः । 'एकम् अक्षरम् एकं पदम् एकं वाक्यम्' इति । उत्पन्नापवर्गिष्वनेकेषु वर्णेषु एकबुद्धेविषयः स्फोटः बृहत्त्वाद् ब्रह्मशब्दाभिधेयः । स्फुट्यते अर्थः प्रकाश्यते [अनेन] इति स्फोटः ॥

ननु अर्थाभिव्यञ्जकश्चेच्छब्दस्तर्हि वर्णात्मक एव सः । ज्ञातेषु वर्णेषु अर्थो ज्ञायत इति प्रसिद्धिः । नैतत् वर्णात्मकशब्दः अर्थप्रत्यायक इति कोऽर्थः । एकैको वर्णः अर्थप्रत्यायकः, उत अनेक इति । न तावद् एकैकः । अकारादीनां वर्णानां प्रत्येकं वर्णोच्चारणे अर्थप्रतीतेरभावात् । न च अव्ययानां तिरस्काराद्यर्थं प्रत्यायकत्वं दृष्टमिति मन्तव्यम् । 'अव्ययादाप्सुपः' [पा० २।४।८२] इति विभक्तौ लुप्तायां तेषाम् अर्थप्रत्यायकत्वात् न तु प्रातिपदिकावस्थायाम् । ततश्च अ इ उ इति वर्णानां तिरस्काराश्चर्यादरार्थानां तेषां पदात्मकत्वेन अनेकवर्णात्मकत्वात् । [अर्थप्रत्यायकत्वम्] । न हि अदर्शनमात्रेण विभक्तिवर्णानाम् असत्त्वम् । तथात्वे संबुद्धिप्रातिपदिकार्थयोरेकत्वप्रसङ्गात् । अनिष्टं च तच्छाब्दिकानाम् । तथा च अव्ययानामेव अर्थप्रत्यायकत्वम् न वर्णानाम् एकैकशः । अव्ययानि च पदविशेषा इत्युक्तम् । एतेन उपसर्गादीनि सर्वाणि व्याख्यातानि । ततः अनेके वर्णा अर्थप्रत्यायक इति वक्तव्यम् । अयमपि पक्षो न कक्षीकरणीयः । अपदात्मकस्य कचटतेत्यादिरूपस्य अर्थप्रत्यायकत्वादर्शनात् । पदात्मकोऽनेको वर्णः अर्थप्रत्यायक इति सारं स्थितम् । पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा । तच्च प्रातिपदिककृत्तद्धितधातुसमासप्रकृतिकम् । तत् सर्वं वर्णस्वरूपमेव । न तु ततोऽतिरिक्तं पदमस्ति वर्णेभ्योऽतिरिक्तस्य पदस्य अदर्शनात् ।

ननु वर्णगतो धर्मः कश्चन पदमिति । तथा व्यक्तिगतो जातिविशेषो गोत्वमिति । एवं चेत् एकगोव्यक्तिदर्शने गोत्वप्रतीतिवत् एकैकवर्णदर्शने पदप्रतीतिः स्यात् । ततो वर्णानां समुदायविशेषः पदमिति वक्तव्यम् । तच्च अर्थप्रत्यायकमिति वर्णनीयम् । तेन पदसमुदायविशेषे वाक्यम् इत्युपपादितं भवति । वर्णन्यायस्य पदे संचरणात् । ननु अस्त्वेवम् ! तावता वर्णा एव शब्द इति भवताप्युक्तम् पदवाक्यात्मकानां वर्णानाम् । अर्थप्रत्यात्यकत्वकथनेन भावानवबोधात् । भाव-

श्चायम्। यदि वर्णा नित्या यदि वा अनित्या उभयथापि तेषां समुदायो नोपपन्नः। नित्यानां तु गुणत्वे सर्वगतद्रव्यत्वे वा पञ्चाशत्संख्याकानां तेषां मेलनं केन कर्तुं शक्यम्? न चैवं वर्णानां स्थानप्रयत्नवैयर्ध्यप्रसङ्गः। नित्यानामेव तेषां स्थानप्रयत्नाभ्यामेव अभिव्यज्यमानत्वात्। न च अभिव्यक्तेरपि समुदायः कर्तुं शक्यः। वर्णाभिव्यक्तेर्ज्ञानरूपत्वात्। ज्ञानानां च क्रमेण जायमानत्वात्। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिरमनसो लिङ्गम्'[गौ० सू० १। १। १६] इति न्यायात्। क्रमेण जायमानानां क्षणिकानां तेषाम् एकस्मिन् देशे काले वा मेलनस्य कर्तुम् अशक्यत्वात्। न च मेलनाद् अन्यः समुदायोऽस्ति। तस्माद् वर्णनित्यत्वेऽपि स्पष्टः समुदायाभावः। कथं वर्णसमुदायः पदं पदसमुदायो वाक्यम् अर्थप्रत्यायकं स्यात्। अस्ति तु अर्थप्रत्ययः शब्दात्। ततः शब्दतत्त्वम् अन्यदेव॥

ननु एतादृशं शब्दतत्त्वं कुतः प्रतीयते। अनित्येभ्यो वर्णेभ्य इति ब्रूमः। न च तत्र उक्तानुपपत्तिः पूर्वपूर्ववर्णसचिवान्त्यवर्णबुद्धेरिति ब्रूमः। न चैवम् अर्थप्रत्ययोऽप्येवमस्त्विति वक्तव्यम्। तथात्वे तस्य अशाब्दत्वं स्यात्। अनिष्टं च तत्। ततश्च उक्तबुद्धेः प्रतीयमानं शब्दतत्त्वम् एव बुद्धेर्विषयोऽर्थप्रत्यायक इति स्थितम्। यच्चार्थप्रत्यायकं स स्फोट इत्युक्तम्॥

यत् शब्दब्रह्म एकम् एकप्रत्ययविषयः सर्वभूतानाम् स्थावरजङ्गमानां शरीरिणां चैतन्यम्। तद् उक्तम् 'शब्दब्रह्मणा व्यतिरिक्तं न चैतन्यम् अस्ति' इति। ननु चैतन्यविवर्ता इमे नानाविधा भावाः सर्वे सशब्दाः। तत् शब्दतत्त्वं स्यात्। न च अधिष्ठानम् अध्यस्तं भवति इत्यत आह—'यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलम् इदमिति'। परिणामोऽत्र विवर्तोऽभिहितः। ननु परिणामविवर्तयोः को भेदः। अयम्। पूर्वरूपापरित्यागेन असत्यनानाकारप्रतिभासो विवर्त यथा शुक्तिकायां रजतस्य, सर्परज्ज्वां वा सर्पस्य प्रतीतिः। पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकारप्रतिभासः परिणामः। यथा क्षीरस्य दधिप्रतिभासः। त्रिभुवनं यत्परिणाम इत्युक्ते भौतिका भावाः शब्दब्रह्मणः परिणामाः स्युः। तद्व्युदासाय उक्तम् अखिलम् इदम् इति। इदम् जाड्यप्रत्ययविषयः। चैतन्याद् व्यतिरिक्तं सर्वमित्यर्थः। सा स्फोटरूपा वाणी जयति॥

तेन एतद् उक्तं भवति शब्दब्रह्मणि चेतने सर्वप्रपञ्चविवर्ताधारे स्फोटे शब्दे शब्दाभिधेयत्वम्, न तु वर्णानाम्। तेषामपि स्फोटे अध्यस्तत्वात्। तस्मात् स्फोट एव शब्दः॥

शाब्दिकमत-निरासः इति ये मन्यते तेषां दुरन्तं व्यसनम् आपतितम्। अप्रतीतस्वार्थस्य प्रतीतिः। प्रतीतस्यार्थस्य परित्यागः। तथा हि। वर्णात्मकशब्देभ्यो यथा स्फोटः शब्दः प्रतीयत तथैवार्थः प्रतीयताम्। को दोषः। न च ज्ञानव्यवधाने अशाब्दत्वं तस्यार्थस्य। स्फोटोऽपि शब्द एव। शब्दश्च ज्ञानकरणम् प्रत्यक्षव्यतिरिक्तानां करणानां ज्ञानकरणत्वा-

ङ्गीकारात् सर्ववादिभिः। ततश्च यः स्फोटपक्षे परिहारः स एव वर्णपक्षे भविष्यति। तथा हि पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसचिवोऽन्त्यो वर्णो ज्ञातः सन् अर्थं प्रत्याययिष्यति। किम् अन्तर्गडुना स्फोटेन ॥

तस्माद् अपौरुषेयत्वाद् नित्यत्वाद् विवक्षितार्थत्वाच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेस्तदन्तर्गतस्य ब्रह्मवेदस्यापि विवक्षितार्थत्वेन व्याख्येयतासिद्धिः ॥

अथर्ववेदव्याख्यानस्य त्रयीव्याख्याना-नन्तर्योपपादनम् तथापि कथमस्य अन्ते व्याख्येयता। वेदानां क्रमेण अभिव्यक्तिप्रतिपादकश्रुतिवशात् इति ब्रूमः। सा च अथर्ववेदस्य पूर्णब्राह्मणे प्रणवप्रशंसावसरे श्रूयते। 'ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे। स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्ताम् आपेदे। केनाहम् एकेनाक्षरेण सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च देवान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च वृष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमान्यनुभवेयम इति। स ब्रह्मचर्यम् अचरत्। स ओम् इत्येतद् अक्षरम् अपश्यत् त्रिवर्णं चतुर्मात्रं सर्वव्यापि' इत्यादि [गो० ब्रा० १।१६] ॥ 'तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीम् अग्निम ओषधिवन्-स्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिं गायत्रं छन्दः त्रिवृतं स्तोमं प्राचीं दिशं वसन्तम् ऋतुम्' [गो० ब्रा० १।१७] इत्यादिना आद्याभिस्तिसृभिः प्रणव-मात्राभिराप्तव्यान् ऋगादीन् प्रतिपाद्य अन्ते समाम्नातम्। तस्य मकार-मात्रयापश्चन्द्रमसम् अथर्ववेदं नक्षत्राण्योमिति स्वम् आत्मानम् आनु-ष्टभं छन्दः एकविंशं स्तोमम्' इत्यादि [गो० ब्रा० १।२०] तथा तैत्तिरी-यकेऽपि ब्रह्मयज्ञप्रकरणे श्रूयते—'यद् ऋचोऽधीते पयसः कूल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति। यद् यजूंषि घृतस्य कूल्या। यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्या।' [तै० आ० २।१२] इति। तद् एवम् उदीरितरीत्या सर्वत्राथर्ववेदस्य चरमभावित्वात् तद्व्याख्या-नस्य त्रयीव्याख्यानानन्तर्यम् उपपन्नम् ॥

अथर्ववेदस्य शाखा-विषयको विचारः तस्य ऐहिकामुष्मिकसकलपुरुषार्थपरिज्ञानोपायभूतस्य अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद् यथा। पैप्पलादाः तौदा मौदाः शौनकीया जाजला जलदा ब्रह्मवदा वेददर्शाश्चरणवैद्या-श्चेति। तत्र शौनकीयादिषु चतसृषु शाखासु अनुवाकसूक्तऋगादीनां गोपथब्राह्मणानुसारेण पञ्चभिः सत्रैर्विनियोगोऽभिहितः। तानि च सूत्राणि कौशिकम् वैतानम् नक्षत्रकल्पः अङ्गिरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति। तद् उक्तम् उपवर्षाचार्यैः कल्पसूत्राधिकरणे—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः।
तुर्य आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः ॥

तत्र साकल्येन संहितामन्त्राणां शान्तिकपौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोग-विधानात् संहिताविधिर्नाम कौशिकं सूत्रम्। तदेव इतरैः सूत्रैरुपजीव्यत्वात्

प्रधानं च । एतेषु बहुषु सूत्रेषु अथर्ववेदप्रतिपाद्यानि कर्माणि विप्रकीर्णत्वाद् दुर्बोधानीति सुखावबोधाय तानीह संगृह्यन्ते । तत्र तावत् कौशिकसूत्रक्रमेण प्रतिपाद्यान्येतानि कर्माणि ।

कौशिकसूत्रोदितानामथर्ववेदप्रतिपाद्यानां कर्मणां क्रमेण नामोल्लेखः

आदौ स्थालीपाकविधानेन दर्शपूर्णमासविधिः । ततो मेधाजननानि । ब्रह्मचारिसांपदानि । ग्रामनगरदुर्गराष्ट्रादिलाभार्थानि । पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादिसर्वसंपत्साधकानि जनानाम् एकसत्यसम्पादकानि सांमनस्यानि ततो राजकर्माणि । तानि च शत्रुहस्तित्रासनानि संग्रामजयसाधनानि इषुनिवारणार्थानि खड्गादिसर्वशस्त्रनिवारणानि परसेनामोहनोद्वेजनस्तम्भनोच्चाटनादीनि स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि संग्रामे जयपराजयपरीक्षार्थानि सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्माणि परसेनासंचरणप्रदेशेषु अभिमन्त्रितपाशासिकशाप्रक्षेपणादीनि जयकामस्य राज्ञो रथस्यारोहणन् अभिमन्त्रितभेरीपटहादिसर्ववादित्रताडनम् सपत्नक्षयकर्माणि शत्रूत्सादिनस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशकानि राजाभिषेकः । पापक्षयार्थानि निर्ऋतिकर्माणि । चित्राकर्मादीनि । पौष्टिकानि । गोसमृद्धिकर्माणि । लक्ष्मीकराणि । पुष्टचर्थमणिबन्धनानि । कृषिपुष्टिकराणि । अनडुत्समृद्धिकराणि । गृहसंपत्कराणि नवशालाकर्मादीनि वृषोत्सर्जनम् । आग्रहायणीकर्म । जन्मान्तरकृतपापनिमित्ताचिकित्स्यविविधरोगभैषज्यानि । तत्र प्रथमं सर्वव्याधिभैषज्यं ज्वरातिबहुमूत्रादिभैज्यानि शस्त्राद्यभिघातजरुधिरप्रवाहनिरोधकानि । भूतप्रेतपिशाचापस्मारब्रह्मराक्षसबालग्रहादीनि वारणानि । वातपित्तश्लेष्मभैषज्यानि । हृद्रोगकामिलाश्वित्रनिवारणानि । संततज्वरैकाहिकाहिकादिविषमज्वरराजयक्ष्मजलोदरनिवारणनि गवाश्वादीनां क्रिमिहराणि कन्दमूलसर्पवृश्चिकस्थावरजङ्गमविषनिवारणानि सिरोक्षिनासिकाकर्णजिह्वाग्रीवादिरोगभैषज्यानि ब्राह्मणाद्याक्रोशनिवारणानि गण्डमालादिविविधरोगभैषज्यानि । पुत्रादिकामस्त्रीकर्माणि । सुखप्रसवकर्माणि । गर्भाधानगर्भबृंहणपुंसवनादीनि सौभाग्यकरणानि । राजादिमन्युनिवारणानि अभीष्टसिद्ध्यसिद्धिविज्ञानानि । दुर्दिनाशन्यतिवृष्टिनिवारणानि । सभाजयविवादजयकलहशमनानि । स्वेच्छातो नदीप्रवाहकरणानि । वृष्टिकर्माणि । अर्थोत्थापनकर्म । द्यूतजयकर्म । स्वेच्छातो नदीप्रवाहकरणानि । वृष्टिकर्माणि । अर्थोत्थापनकर्म । द्यूतजयकर्म । गोवत्सविरोधनिवारणम् । अश्वशान्तिः । वाणिज्यलाभकर्म । स्त्रियाः पापलक्षणनिवारणम् । वास्तुसंस्कारकर्म । कपोतवायसाद्युपहतगृहशान्तिविधिः । दुष्प्रतिग्राहाज्ययाजनादिदोषनिवारणम । दुःस्वप्ननिवारणम् । कुमारस्य पापनक्षत्रजननशान्तिः । ऋणापनोदनम् । दुःशकुनशान्तिः । आभिचारिकाणि । परकृताभिचारनिवारणानि । स्वस्त्ययनानि आयुष्याणि । जातकर्मनामकरणचूडाकरणोपनयनादीनि । एकाग्निसाध्याः काम्या यागाः ब्रह्मौदनस्वर्गौदनाद्या द्वाविंशतिः सवयज्ञाः ।

क्रव्याच्छमनम् । आवसथ्याग्न्याधानम् । विवाहः पैतृमेधिकानि । पिण्ड-पितृयज्ञः । मधुपर्कः । पांसुरुधिरादिवर्षणयक्षराक्षसादिदर्शनभूकम्पधूमकेतु-चन्द्रार्कोप्लवादिबहुविधोत्पातशान्तयः । आज्यतन्त्रविधिः । अष्टकाकर्म । इन्द्रमहः । ततोऽध्ययनविधिरिति ।

वैतानसूत्रविहितादि ब्रह्मादि-चतुर्ऋत्विजां कर्माणि तथा वैतानसूत्रे दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंसी आग्नीध्रः पोतेति चतुर्णाम् ऋत्विजां कर्तव्यं प्रतिपाद्यते । तत्र अनुज्ञानुमन्त्रणादीनि ब्रह्मणः । शस्त्रादीनि ब्राह्मणाच्छंसिनः । आग्नीध्रस्य अन्वाहार्यश्रपणप्रस्थितयाज्यादीनि । पोतुः प्रस्थितयाज्यादीनि । इति विभागः । तत्र अयं कर्मक्रमः । प्रथमं दर्शपूर्णमासौ । ततोऽग्न्याधानम् । अग्निहोत्रम् । आग्रयणेष्टिः । चातुर्मास्यानि । वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेध-शुनासीरीयाणि । पशुयागः । अग्निष्टोमोक्थ्यषोडश्यतिरात्रात्मकः प्रकृति-भूतश्चतुःसंस्थः सोमयागः । वाजपेयः । अप्तोर्यामः । अग्निचयनम् । सौत्रामणी । मैत्रावरुण्यामिक्षेष्टिः । गवामयनम् । राजसूयः । अश्वमेधः । पुरुषमेधः । सर्वमेधः बृहस्पतिसवगोसवादयः एकाहाः सोमयागाः । व्यष्टिदिवरात्रप्रकृतयोऽहीनाः । रात्रिसत्राणि । सांवत्सरिकाण्ययनानि । दर्शपूर्णमासायनानीति ॥

नक्षत्रकल्पोक्तानि कर्माणि नक्षत्रकल्पेऽपि प्रथमं कृत्तिकादिनक्षत्रपूजाहोमादि । ततोऽद्भुतमहाशान्तिः । नैर्ऋतकर्म । अमृताद्या अभयान्तास्त्रिंशन्महाशान्तयो निमित्तभेदेन प्रतिपादिताः तत्र दिव्यान्तरिक्षभौमेषु उत्पातेषु अमृताख्या महाशान्तिः गतायुषां पुनर्जीवनाय वैश्वदेवी । अग्निभयनिवृत्तये सर्वकामाप्तये चाग्नेयी । नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्तरोगगृहीतानां तच्छान्तये भार्गवी । ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च ब्राह्मी । राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य बार्हस्पत्या । प्रजापश्वन्नालाभाय प्रजाक्षयनिवृत्तये च प्राजापत्या । शुद्धिकामस्य सावित्री । छन्दोब्रह्मवर्चसकामस्य गायत्री । संपत्कामस्य अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च आङ्गिरसी । विजयबल-पुष्टिकामस्य परचक्रोद्वेजनकामस्य च ऐन्द्री । अद्भुतविकारनिवृत्ति-कामस्य राज्यकामस्य च माहेन्द्री । धनकामस्य धनक्षगनिवृत्तिकामस्य च कौबेरी । विद्यातेजोधनायुष्कामस्य आदित्या । अन्नकामस्य वैष्णवी । भूतिकामवास्तुसंस्कारकर्मणोर्वास्तोष्पत्या । रोगार्तस्य आपद्ग्रस्तस्य च रौद्री । विजयकामस्य अपराजिता । यमभये याम्या । जलभये वारुणी । वात्याभये वायव्या । कुलक्षयनिवृत्तये संतत्याख्या । वस्त्रक्षयनिवृत्तये त्वाष्ट्री । बालस्य व्याधिनिवृत्तये कौमारी । निर्ऋतिगृहीतस्य नैर्ऋती । बलकामस्य मारुद्गणी । अश्वक्षयनिवृत्तये गान्धर्वी । राजक्षयशान्तये पारावती । भूमिकामस्य पार्थिवी । भयार्तस्य अभयाख्या महाशान्तिः आसां तन्त्रभूता महाशान्तिश्चेति ॥

आङ्गिरसकल्पे गदितानां कर्मणां समाख्यानम् तथा आङ्गिरसकल्पे आभिचारकर्मादौ कर्तृकारयितृसदस्यानां स्वात्मरक्षाकरणम्। अभिचारोपयुक्तदेशकालमण्डपकर्तृकारयितृदीक्षादिधर्मसमिदाज्यादिसंभारनिरूपणादिकम्। ततः आभिचारिककर्माणि। परकृताभिचारनिवारणादीन्यन्यान्यपि कर्माणि॥

शान्तिकल्पोदितानि कर्माणि शान्तकल्पेऽपि प्रथमं वैनायकग्रहग्रहीतलक्षणानि। तच्छान्तये संभाराहरणम्। अभिषेकवैनायकहोमाः। तत्पूजाविधानम्। आदित्यादिनवग्रहयज्ञादिकमिति।

अथर्वपरिशिष्टप्रतिपादिता राज्याभिषेकोपयुक्ता अनुष्ठानविषयः एतेषु कल्पेष्वनुक्तानि यानि राजाभिषेकोपयुक्तद्रव्यप्रकृद्रव्यपरिग्रहपुरोहितवरणादीनि परिशिष्टोक्तानि तान्यपि अनुक्रम्यन्ते। प्रथमं राजाभिषेकः। प्रातः प्रातर्वस्त्रगन्धालङ्कारसिंहासनाश्वगजान्दोलिकाखड्गध्वजचामरादीनां तत्तन्मन्त्राभिमन्त्रितानां राज्ञे प्रदानादीनि पुरोहितकर्माणि। सुवर्णधेनुतिलभूमिदानादीनि राज्ञः प्रतिदिवसकर्तव्यानि। पूजितपिष्टमय्या सदीपया रात्रिप्रतिमया राज्ञो नीराजनम् रक्षाकरणं च इत्येवमादीनि पुरोहितस्य रात्रिकर्माणि। राज्ञः पुष्पाभिषेकः। राज्ञो रात्रौ आरात्रिकविधानम्। प्रातः प्रातर्घृतावेक्षणम्। कपिलादानम्। तिलधेनुदानम्। रसादिधेनवः। कृष्णाजिनदानम्। भूमिदानम्। तुलापुरुषविधिः। आदित्यमण्डलाकारापूपदानम्। हिरण्यगर्भविधिः, हस्तिरथदानम्। कनकाश्वादिदश महादानानि। अश्वरथदानम्। गोसहस्रविधिः। वृषोत्सर्गः। कोटिहोमः। लक्षहोमः। अयुतहोमः। घृतकम्बलविधिः। तटाकप्रतिष्ठा। पशुपतव्रतम्। इत्येवमादीनि अन्यान्यपि दानव्रतादीनि।

इति सपरिशिष्टपञ्चकल्पप्रतिपाद्यानां कर्मणां दिङ्मात्रेण अयम् अनुक्रमः। विशेषस्तु तत्तत्सूक्तविनियोगावसरे वक्ष्यते।

नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन कर्मणां त्रैविध्यम् एतानि च त्रिविधानि नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन। तत्र जातकर्मादीनि नित्यानि। दुर्दिनशनिनिवारणाश्वशान्त्यद्भुतकर्माणि च नैमित्तिकानि। मेधाजननग्रामसांपदादीनि काम्यानि। अत्र नित्यानां नैमित्तिकानां च अवश्यानुष्ठेयता। अकरणे प्रत्यवायस्मरणात्। तथाहि।

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया।

काम्यानां तु इच्छातः प्रवृत्तिः।

एतेषां ग्रामाद् बहिः प्रागुदग्देशे महानदीतटाकाद्युत्तरकूलेऽनुष्ठानम्। 'पुरस्तादुत्तरतोऽरण्ये कर्मणां प्रयोग उत्तरत उदकान्ते' इति कौशिकसूत्रात् (कौ० १।७)। पुंसवनादीनां तु नित्यानां गृह एवेति रुद्रभाष्यकारमतम्। कालस्तु पर्वद्वयं पुण्यनक्षत्रयुक्तं तिथ्यन्तरं वा। अद्भुतकर्मणां

तु तत्तन्निमित्तानन्तरमेव । तथा—

अमावास्या पौर्णमासी पुण्यनक्षत्रयुक् तिथिः ।
एत एव त्रयः कालाः सर्वेषां कर्मणां स्मृताः ॥
अद्भुतानां सदा कालम् आरम्भः सर्वकर्मणाम् ॥

आभिचारिकाणां तु ग्रामाद् दक्षिणदिशि कृष्णपक्षे कृतिकानक्षत्र-प्रयोग इति विशेषः । तथा च कौशिकसूत्रम् । 'आभिचारेषु दक्षिणतः संभारम् आहृत्य आङ्गिरसम्' (कौ० ६।१) इत्यादि । अत्र आङ्गिरसमिति आङ्गिरसकल्पोक्तमित्यर्थः । एतेषां कर्मणां प्राच्योदीच्याङ्गानि दर्शपूर्ण-मासवत् कार्याणि । 'इमौ दर्शपूर्णमासौ व्याख्यातौ दर्शपूर्णमासाभ्यां पाक-यज्ञाः' इति सूत्रकारवचनात् (कौ० १।६) । अत्र पाकयज्ञशब्देन सर्वम् आथर्वणं कर्मोच्यते ॥

आथर्वणकर्मणामाज्यतन्त्र-पाकतन्त्रेतिभेदात् द्वैविध्य-प्रतिपादनम्

तच्च द्विविधम् । आज्यतन्त्रं पाकतन्त्रं चेति । यत्र प्रधानं हविः आज्यं तद् आज्यतन्त्रम् । यत्र चरु-पुरोडाशादिकं तत् पाकतन्त्रम् । आज्यतन्त्रे अयम् अनुष्ठानक्रमः । प्रथमम् 'अव्यसश्च' [१९।६५] इति कर्तुर्जपः बर्हिर्लवनं वेदिः उत्तरवेदिः अग्निप्रणयनम् अग्निप्रतिष्ठापनम् व्रतग्रहणम् पवित्रकर-णम् पवित्रेणेध्मप्रोक्षणम् इध्मोपसमाधानम् बर्हिष्प्रोक्षणम् ब्रह्मासनम् ब्रह्मस्थापनम् स्तरणम् स्तीर्णप्रोक्षणम् आत्मासनम् उदपात्रस्थापनम् आज्यसंस्कारः स्रुवग्रहणम् पुरस्ताद्धोमाः आज्यभागौ । 'सविता प्रसवा-नाम् [५ । २४] इति कर्मणि अभितोभ्यातानैराज्यं जुहुयात्' [कौ० १४,१] इति सूत्रकारवचनात् अभ्यातानानि । एतदन्तं पूर्वतन्त्रम् ॥

ततो यथोपदेशं प्रधानहोमः ॥ तत उत्तरतन्त्रम् अभ्यातानानि पार्वण-होमः समृद्धिहोमः संनतिहोमः स्विष्टकृद्धोमः सर्वप्रायश्चित्तीयहोमः स्कन्न-होमः 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' [७।६९] इति होमः स्कन्नास्मृतिहोमौ संस्थिति-होमाः चतुर्गृहीतहोमः बर्हिर्होमः संस्रवहोमः विष्णुक्रमा व्रतविसर्ज-नम् दक्षिणादानम् ब्रह्मोत्थापनम् इति । पाकतन्त्रे तु अभ्यातानाभाव एव विशेषः । अन्यत् सर्वं समानम् । तथा गोपथब्राह्मणम्—

आज्यभागान्तं पाकतन्त्रम् ऊर्ध्वं स्विष्टकृता सह ।
हवींषि यज्ञ आवापो यथा तन्त्रस्य तन्तवः ॥

अद्भुतकर्मणाम् आज्यतन्त्रत्वेऽपि पाकतन्त्रवद् अभ्यातानाभावः । यद् आह केशवः । 'पाकतन्त्रेष्वभ्यातानानि न भवन्ति, अद्भुतेषु न भवन्ति, अन्यत्र सर्वत्र भवन्ति' इति [के० १४।१]

इति सायणाचार्यकृता अथर्ववेदभाष्यभूमिका समाप्ता ।

समाप्तोऽयं चतुर्वेदभाष्यभूमिकाभिधानो ग्रन्थः ॥

परिशिष्ट (१)

ग्रन्थस्थविषयाणामक्षरक्रमेणानुक्रमणी

परिशिष्ट (२)

पारिभाषिकशब्दानामकारादिक्रमेण

सूची

परिशिष्ट (३)

भाष्यभूमिकासु निर्दिष्टानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च

सूची



परिशिष्ट (४)

भाष्यभूमिकास्थितोद्धरणानां वर्णक्रमेण

सूची

प्रतीक		पृष्ठ
फ		
फलवद् बोधान्तत्वे	पुरुषार्था	४२
फलस्य कर्मनिष्पत्तेः	जै. १।२।१७	३१, ४७
फलान्तरं हि	जै. न्या. वि. २।२।१३	८६
फलान्तरं चतुर्थोक्तं	” ”	८६
फल्गुनीपूर्णमासे	ता. प्र. ५।६।१७	५७
ब		
बबरः प्रावाहणिः	तै. सं. ७।१।१०।२	२२, २७, ३२, ३३
बाध्यं श्लोकादिना	जै. न्या. वि. १०।४।६	६१
बृहत् प्रस्तूयमाने	ता. ७।७	८०
बृहद् यवः	जै. न्या. वि. १०।७।१६	६८
बृहद्रथन्तरैकीय	जै. न्या. वि. १०।४।२४	६२
बृहद्रथन्तरैर्धर्मैः	जै. न्या. वि. ६।२।१५	८०
ब्रह्म ह वै	गो. ब्रा. १।१६	१३८
ब्रह्मविचारः		४३
ब्रह्मविदाप्नोति	तै. आ. ८।१	४८
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव	मुण्ड. ३।२।६	४८
ब्रह्म साम्न्या		६६
ब्राह्मणेन निष्कारणो		४, ११५
ब्राह्मणेनापि	जै. न्या. वि. १।२।४	१००, ११३
म		
मतौ छः	अष्टा ५।।२।५६	७०
मन्त्रब्राह्मणयोः	जै. न्या. वि. १।२।४	१५, ६४, १६०
मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति	जै. न्या. वि. २।१।८	३६, ६५
मन्त्रा उरु प्रथस्वेति	जै. न्या. वि. १।३।४	२४, १००, ११३
मन्त्रा मननात्	नि. ७।१२	१४
मन्त्रो हीनः स्वरतो	पा. शि. ५२	५०
माधुर्यमक्षर	पा. शि. ३३	५०
मायां तु प्रकृतिं	श्वे. उ. ४।१०	१०४
माषानेव मह्यं		३६, ६५
मासि मासि	तै. सं. ७।५।१५	५७
मोघमन्नं विन्दते	ऋ. १०।११७।६	३६, ६६